राम और रोमाल

कहानी-संग्रह

प्रकाशक : अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०
२/३६ अंसारी रोड,
दरियागंज, दिल्ली-६

मूल्य : **चार रुपये**

प्रथम संस्करण : १९६८

आवरण : सुखदेव दुग्गल

आवरण-मुद्रक : परमहंस प्रेस, दिल्ली

मुद्रक : रूपक प्रिंटर्स, दिल्ली

कहानी क्रम

कोमल कोठारी को

नई नौकरी

टाई की नॉट ठीक करते हुए कुन्दन आदेश देता जा रहा था—"सोफे का कपड़ा कम पड़ गया है, तुम खुद लाकर दे देना। इनके ज़िम्मे कर दिया तो समझो सब चौपट। दरवाज़े, खिड़कियों का वार्निश आज ज़रूर पूरा हो जाना चाहिए। और देखो, प्लम्बर आएगा तो जहाँ-जहाँ के नल और पाइप खराब हों, सब ठीक करवा लेना।"

रमा पीछे खड़ी सामने के आईने में पड़ते कुन्दन के प्रतिबिम्ब को देख रही थी। उसे लग रहा था नई नौकरी के साथ कुन्दन की सारी पर्सनेलिटी ही नहीं, बात करने का लहजा तक बदल गया है। कितना आत्म-विश्वास आ गया है सारे व्यक्तित्व में! रौब जैसे टपका पड़ता है।

होंठों के कोनों में चुरट दबाए, जाने से पहले उसने सारे घर का एक चक्कर लगाया। यह भी रोज़ का एक क्रम हो गया था। पीछे के बरामदे में दर्ज़ी सोफे के कवर्स सिलाई कर रहा था। कुछ दूर खड़ा मिस्त्री, छोटे-छोटे टिनों में वॉर्निश तैयार करते लड़के को कुछ आदेश दे रहा था। कुन्दन को देखकर उसने सलाम ठोंका। "अब्दुल मियाँ, काम आज पूरा हो जाना चाहिए, तुम्हारा काम बहुत स्लो चल रहा है।"

"काम भी तो देखिये सरकार! समय चाहे दो दिन का ज़्यादा लग जाए, पर आपको शिकायत का मौक़ा नहीं दूँगा। मैं साहब काम की क्वालिटी पर···"

"अच्छा···अच्छा···" कुन्दन लौट आया। ड्राइंग-रूम के पार्टीशन पर नज़र पड़ते ही कहा—"'इन्टीरियर-डेकोरेटर्स' वालों के यहाँ फोन

ज़रूर कर देना। यह पार्टीशन बिल्कुल नहीं चलेगा। डिज़ाइन क्या बताया था, बनवा क्या दिया, रबिश।"

कुन्दन गाड़ी में बैठा। रमा पोर्टिको की सबसे निचली सीढ़ी पर खड़ी थी। उसे लगा, जाने से पहले एक बार वह फिर सारे आदेशों को दोहराएगा, पर नहीं। गाड़ी स्टार्ट करके, खिड़की से ज़रा-सा हाथ निकालकर हल्के से हिलाते हुए कहा—'अच्छा, बा···बाई,' तो उसे खयाल आया यह तो उसकी आदत थी कि गाड़ी में बैठकर चलने से पहले वह नौकर के सामने बताए हुए सारे काम फ़िर से दोहरा दिया करती थी।

तब कुन्दन हँसता हुआ कहता था—"बस भी करो यार, अब कितनी बार दोहराओगी। तुम इतनी बार कहती हो इसीसे वह गड़बड़ा जाता है।"

गाड़ी लाल बजरी की सड़क पर तैरती हुई फाटक से बाहर निकली और दूर होती हुई अदृश्य हो गयी।

रमा को लगा जैसे कुन्दन उसे पीछे छोड़कर आगे निकल गया है··· बहुत आगे। जैसे वह अकेली रह गई है। एक महीने पहले वह भी कुन्दन के साथ ही निकला करती थी, कुन्दन उसे कॉलेज छोड़ता हुआ आफ़िस जाया करता था। पर अकेलेपन की यह अनुभूति तभी तक रहती जब तक वह पोर्टिको में खड़ी रहती। जैसे ही फ़्लैट का दरवाज़ा खोलकर वह भीतर घुसती— लक-दक फ़र्नीचर, शीशों के दरवाज़ों और खिड़कियों पर झूलते लम्बे-लम्बे पर्दे, मिस्त्रियों की खटपट, नए-नए डिसटेम्पर और वॉर्निश की हल्की-सी गन्ध के बीच न जाने कहाँ डूब जाती।

काम की एक लिस्ट उसके पास होती, जिन्हें उसे पूरा करना होता; काम करने मिस्त्रियों को देखना होता; मार्केट के दो-एक चक्कर लगाने होते···और यह सब करते-करते ही शाम हो जाती! ट्रिंग-ट्रिंग···ट्रिंग-ट्रिंग···

फ़ोन उठाकर, उसने नम्बर बोला, "कौन, मिसेज़ वर्मन! कहिए, कहिए, क्या खबर है?

मिसेज़ वर्मन शिकायत कर रही थीं, "कॉलिज छोड़े महीना होने

आया, एक बार सूरत तक नहीं दिखायी। आउट ऑफ साइट ..."

"अरे नहीं-नहीं," रमा ने बात बीच में ही काट दी। उसने थोड़ा-सा झुककर कोहनी मेज पर टिका ली। उलटे हाथ में पेंसिल लेकर वह फोन का सन्देशा लेने के लिए जो पैड रखा था, उस पर यों ही आड़ी-तिरछी लकीरें खींचने लगी।

"आज लंच के समय आओ न, साथ बैठकर खाएँगे। तुम्हारे चले जाने से हमारा डिपार्टमेंट तो सूना ही हो गया। लंच के समय तो तुम्हें बहुत ही मिस करते हैं। और एक तुम हो कि जाने के बाद खबर तक नहीं ली..."

'क्या बताऊँ, इस नए घर को ठीक कराने के चक्कर में इतनी व्यस्त रही कि उधर आ नहीं सकी। अच्छा यह बताइये सुधा, मालती, जयन्ती सब कैसी हैं?"

"कहा न, आज आओ, सबसे मिल भी लेना, खाना भी साथ खाएँगे।"

"आज?" और एक क्षण को मन के भीतरी स्तर पर आज के सारे कामों की लिस्ट तैर-सी गई—"आज तो सम्भव नहीं होगा मिसेज़ बर्मन!" क्षमायाचना के-से स्वर में वह बोली, "बस एक सप्ताह और ठहर जाइए, फिर अपने इस नए घर की पार्टी दूँगी ...देखिए अपनी रमा का कमाल... देखेंगी तो पता लगेगा कि एक महीने तक क्या करती रही।" फिर और दो-चार इधर-उधर की बातें, और हल्की-फुल्की-सी मज़ाकें हुईं और रमा ने फ़ोन रख दिया।

फोन रखने के बाद नए सिरे से इस बात का बोध हुआ कि कॉलिज छोड़े उसे अट्ठाईस दिन हो गए। जाना तो दूर, उसे कभी खयाल भी नहीं आया वहाँ का। आश्चर्य के साथ-साथ उसे थोड़ी-सी ग्लानि भी हुई; वह क्यों नहीं गई, कैसे रह सकी बिना गए? आज बर्मन का फोन नहीं आता तो पता नहीं और भी कितने दिनों तक उसे उधर खयाल ही नहीं आता। क्या सचमुच वह बड़े अफ़सर की बीबी बन गई है? उसे मज़ाक में कहा हुआ जयन्ती का रिमार्क याद आया।

एकाएक मन हुआ कि अभी चल पड़े। एक बार सबसे मिल ही आए। मना करने के बाद पहुँचकर वह सबको प्लेजेण्ट सरप्राइज़ देगी। उसने रसोई में जाकर दस-बारह आलू के पराठे और चाट तैयार करने को कहा। ये दोनों चीज़ें वहाँ सबको बहुत पसन्द थीं। सारे डिपार्टमेण्ट में वह और मिसेज़ वर्मन ही विवाहित थीं···बाकी सब कॉलिज हॉस्टल में रहती थीं और अच्छी-अच्छी चीज़ें खाने की उनकी फ़र्माइशें बनी ही रहती थीं।

उसे अपनी फ़ेयरवैल पार्टी की याद आई। साढ़े दस साल की सर्विस थी। प्रिन्सिपल ने अनेकानेक शुभकामनाओं के साथ फूलों के बड़े-बड़े गुलदस्तों के बीच पार्कर पेन का एक सैट रखकर दिया था—"मिसेज़ चोपड़ा, आप इसी पैन से अपनी थीसिस पूरी करिये। जब भी वापस काम करने का मन हो, बिना किसी संकोच के चली आइए, यहाँ आपका हमेशा ही स्वागत है।" उसके डिपार्टमेण्ट की सभी लेक्चरर्स गाड़ी तक छोड़ने आई थीं—'भई रमाजी, कॉलिज भले ही छोड़ दीजिए, पर लंच के समय खाना लेकर ज़रूर आ जाया करिये,' तो उसकी नम आँखों में भी हँसी चमक उठी थी। तब उसे कुन्दन की बात याद हो आई थी—"तुम वहाँ पढ़ाने जाती हो या खाने! फ़ोन पर भी जब तुम लोगों की बातें होती हैं तो खाना ही डिस्कस होता है।" उसने केवल उन लोगों से ही नहीं कहा था, बल्कि मन में भी सोचा था कि लंच के समय वह कॉलिज चली ही जाया करेगी। आखिर उसे भी तो अपने को कॉलिज से एकदम काट लेने में काफ़ी कष्ट होगा···इस तरह धीरे-धीरे तो फिर भी···

तो क्या कुन्दन ने ठीक ही कहा था? कॉलिज छोड़ने का निर्णय लेकर वह चुपचाप रो रही थी और कुन्दन उसे समझा रहा था—मैं कह रहा हूँ तुम्हें क़तई अकेलापन नहीं लगेगा, तुम ज़रा भी कभी महसूस नहीं करोगी; रादर यू विल फ़ील रिलीव्ड। कितना स्ट्रेन है तुम पर आजकल!

कुन्दन को एकाएक विदेशी कम्पनी में इतनी बड़ी नौकरी मिल जाएगी,

इसकी आशा औरों को चाहे रही भी हो, कुन्दन को बिल्कुल नहीं थी। डॉ० फिशर से पिछले आठ साल से उसके सम्बन्ध थे, विशुद्ध व्यावसायिक सम्बन्ध। उनकी प्रशंसा और सद्व्यवहार को भी वह व्यावसायिक औपचारिकता से अधिक कुछ नहीं मानता था पर···

दस-बारह दिन तक केवल जश्न ही मनाया था रमा और कुन्दन ने। पैसे की उसे इतनी लालसा नहीं थी, पर मारवाड़ी कन्सर्न का काम उसके टेम्परामेण्ट के बिल्कुल अनुकूल नहीं था। रमा इस नये माहौल से नितान्त अपरिचित नहीं थी—क्लब, डान्स, डिनर, कॉकटेल यह सब वह बचपन से देखती आई थी, पर बस देखती ही आई थी, उसमें आने को कभी घुला नहीं पाई थी।

डॉ० फिशर ने कुन्दन को केवल नौकरी ही नहीं दी थी, धीरे-धीरे वे उसकी सारी ज़िन्दगी का पैटर्न भी तय कर रहे थे। उसे दो-तीन क्लबों का मेम्बर बनना पड़ा। आए दिन दूसरी कम्पनियों के बड़े-बड़े अफ़सरों को एण्टरटेन करना पड़ता। विदेशियों को हिन्दुस्तानी खाना खिलाने के बहाने उसे घर में भी बड़ी-बड़ी पार्टियाँ करनी पड़ती। और तीन महीने बाद उसे कम्पनी की ओर से यह फ्लैट मिल गया। उसने सोचा वह अपने इस नए घर को निहायत ही ओरिएण्टल ढंग से सजाएगा, विदेशियों के लिए तो यही नवीनता होगा।

पर घर के लिए नया फर्नीचर बनवाने, चुन-चुनकर चीज़ें खरीदने के लिए दोनों में से किसी के पास भी समय नहीं था। कुन्दन चाहता था यह काम रमा को करना चाहिए, उसकी रुचि बहुत अच्छी थी, यों भी यह काम उसी का था। पर रमा के पास समय ही नहीं रहता। सवेरे उठकर वह बच्चों को तैयार करके स्कूल भेजती। फिर खुद तैयार होती। तैयार होते-होते ही वह नौकर को आदेश देती जाती, सारे दिन का काम समझाती; नाश्ता करते-करते वह खाना लेकर तैयार करती, तैयार तो क्या करती बस मुँह भर लेती। फिर नौ बजे कुन्दन के साथ ही निकल जाती। तीन के करीब वह लौटती···थोड़ा आराम करती और फिर शाम की

तैयारी। बाहर नहीं जाना होता था तो घर में किसी को आना रहता था।

रात ग्यारह-साढ़े-ग्यारह पर वह सोती तो थककर चूर हो जाती। कुन्दन को उस समय हल्की-सी खुमारी चढ़ी रहती, कहता—"डोण्ट बी सिली। पार्टी में कैसे थक जाती हो? गाड़ी में बैठकर जाती हो···खाना-पीना, हँसी-मज़ाक, इनसे भी कहीं थका जाता है? गाड़ी में बिठाकर ले आता हूँ।"

रमा तब केवल सूनी-सूनी आँखों से उसे देखती रहती। मन की भीतरी परतों पर हिस्ट्री के वे टॉपिक्स तैरते रहते जो उसे कल पढ़ाने होते, और जिन्हें वह ज़बरन ही दिमाग़ से बाहर ठेलने का प्रयास करती रहती। कुन्दन उसे बताता रहता कि डॉ० फ़िशर उससे कितने ख़ुश हैं, कितना इम्प्रेस कर रखा है उसने; एकाएक ही उसे अपना भविष्य बहुत उज्ज्वल दिखाई देने लगा है। पता नहीं थकान के कारण या किसी और वजह से वह उतना उत्साह नहीं दिखा पाती तो कुन्दन बिगड़ पड़ता—"क्या बात है, देखता हूँ तुम्हें कोई दिलचस्पी ही नहीं है मेरे राइज में···यू सीम टूबी···"

"क्या बेकार की बातें करते हो, मुझे नींद आ रही है।"

कभी कुन्दन फ़ोन पर कह देता कि ठीक सात बजे तैयार होकर रहना और आकर देखता कि वह तैयार हो रही है तो बिगड़ पड़ता—"रमा, तुम्हें टाइम की सेन्स कब आएगी···कभी घर पर खाना होता और कोई कसर रह जाती तो रात में बड़े सँभलकर कहता—"मैं यह नहीं कहता कि तुम खाना बनाओ···तीन-तीन नौकर तुम्हारे पास हैं, पर ज़रा-सा देख-भर लिया करो!" ऐसे मौकों पर रमा कुछ नहीं कहती।

उस दिन कॉलिज में रमा को एक पेपर पढ़ना था। उसने खुद ही किया था। सोचा था इसी बहाने एक टॉपिक तैयार हो जाएगा, पर भी तैयार नहीं कर पाई। रात में लेटी तो रोना आ गया।

···से यह सब निभता नहीं।" लौटकर बिना कपड़े बदले ही कटे ···रह पलंग पर गिरकर उसने कहा।

"क्या नहीं निभना ?"

"यह रवैया मेरे बस का नहीं है। कितना गिल्टी फील करती हूँ। बिना तैयार किये पढ़ाना, लगता है जैसे लड़कियों को चीट कर रही हूँ। दो घण्टे का समय भी तो मुझे अपने लिए नहीं मिलता।"

कुन्दन सोच रहा था कि रात में रमा के साथ वह एक-एक कमरे को अरेंज करने की योजना बनाएगा। कवर-स्कीम के लिए उसने जेन्सन-निकलसन वालों से बात की थी। रमा की बात सुनी तो चुप रह गया।

"बण्टी की रिपोर्ट देखी ? हमेशा फर्स्ट आया करता था, इस बार सेविन्थ आया है।"

बगल में लेटकर रमा को अपनी ओर खींचते हुए कुन्दन ने बहुत प्यार-भरे लहजे में कहा—"तो तुम उसे पढ़ाया करो !"

"कब पढ़ाया करूँ, तुम्हीं बताओ ! शाम को पाँच से सात बजे का जो समय मिलता है, उसमें वह खेलने जाता है।"

"तो तुम्हीं बताओ मैं क्या करूँ ?" बालों में हाथ फेरते हुए कुन्दन ने बहुत ही मुलायम स्वर में पूछा।

"कल मुझे पेपर पढ़ना है। पन्द्रह दिन पहले टॉपिक मिला था। एक लाइन भी नहीं लिखी है··· अब कोई झूठा बहाना ही तो बनाना पड़ेगा।"

कुन्दन की उँगलियाँ बालों पर से उतरकर गालों पर फिसलने लगीं।

"दस साल पूरे हुए··· छ, आठ महीने में अपनी थीसिस सबमिट कर देती तो मेरा सिलेक्शन-ग्रेड में आना निश्चित ही था, पर ऐसी हालत रही तो···"

रमा रो पड़ी।

दूर कहीं कुन्दन के कानों में डॉ० फ़िशर के शब्द गूँज रहे थे—जनवरी में जर्मनी से डाइरेक्टर आने वाले हैं, हमें यहाँ का सारा काम दिखाना होगा। एक नया प्लाण्ट बिठाने की भी योजना है, उसके लिए कुछ रिस्पॉन्सिबल लोगों की जरूरत होगी···मस्ट स्मार्ट यंग मैन ! बिज़नेस में सॉलिड कॉन्ट्रिब्यूशन पे करते हैं। यू विल हैव टु बी···

तैयारी। बाहर नहीं जाना होता था तो घर में किसी को आना रहता था।

रात ग्यारह-साढ़े-ग्यारह पर वह सोती तो थककर चूर हो जाती। कुन्दन को उस समय हल्की-सी खुमारी चढ़ी रहती, कहता—"डोण्ट बी सिली। पार्टी में कैसे थक जाती हो ? गाड़ी में बैठकर जाती हो···खाना-पीना, हँसी-मजाक, इनसे भी कहीं थका जाता है ? गाड़ी में बिठाकर ले आता हूँ।"

रमा तब केवल सूनी-सूनी आँखों से उसे देखती रहती। मन की भीतरी परतों पर हिस्ट्री के वे टॉपिक्स तैरते रहते जो उसे कल पढ़ाने होते, और जिन्हें वह ज़बरन ही दिमाग़ से बाहर ठेलने का प्रयास करती रहती। कुन्दन उसे बताता रहता कि डॉ० फ़िशर उससे कितने ख़ुश हैं, कितना इम्प्रेस कर रखा है उसने; एकाएक ही उसे अपना भविष्य बहुत उज्ज्वल दिखाई देने लगा है। पता नहीं थकान के कारण या किसी और वजह से वह उतना उत्साह नहीं दिखा पाती तो कुन्दन बिगड़ पड़ता—"क्या बात है, देखता हूँ तुम्हें कोई दिलचस्पी ही नहीं है मेरे राइज में···यू सीम टूबी···"

"क्या बेकार की बातें करते हो, मुझे नींद आ रही है।"

कभी कुन्दन फ़ोन पर कह देता कि ठीक सात बजे तैयार होकर रहना और आकर देखता कि वह तैयार हो रही है तो बिगड़ पड़ता—"रमा, तुम्हें टाइम की सेन्स कब आएगी···कभी घर पर खाना होता और कोई कसर रह जाती तो रात में बड़े सँभलकर कहता—"मैं यह नहीं कहता कि तुम खाना बनाओ···तीन-तीन नौकर तुम्हारे पास हैं, पर ज़रा-सा देख-भर लिया करो !" ऐसे मौक़ों पर रमा कुछ नहीं कहती।

उस दिन कॉलेज में रमा को एक पेपर पढ़ना था। उसने खुद ही ऑफ़र किया था। सोचा था इसी बहाने एक टॉपिक तैयार हो जाएगा, पर बिल्कुल भी तैयार नहीं कर पाई। रात में लेटी तो रोना आ गया।

"मुझसे यह सब निभता नहीं।" लौटकर बिना कपड़े बदले ही कटे पेड़ की तरह पलंग पर गिरकर उसने कहा।

"क्या नहीं निभता ?"

"यह रवैया मेरे बस का नहीं है। कितना गिल्टी फील करती हूँ। बिना तैयार किये पढ़ाना, लगता है जैसे लड़कियों को चीट कर रही हूँ। दो घण्टे का समय भी तो मुझे अपने लिए नहीं मिलता।"

कुन्दन सोच रहा था कि रात में रमा के साथ वह एक-एक कमरे को अरेंज करने की योजना बनाएगा। कलर-स्कीम के लिए उसने जेन्सन-निकलसन वालों से बात की थी। रमा की बात सुनी तो चुप रह गया।

"बण्टी की रिपोर्ट देखी ? हमेशा फस्ट आया करता था, इस बार सेकिन्ड आया है।"

बगल में लेटकर, रमा को अपनी ओर खींचते हुए कुन्दन ने बहुत प्यार-भरे लहजे में कहा—"तो तुम उसे पढ़ाया करो !"

"कब पढ़ाया करूँ, तुम्हीं बताओ ! शाम को पाँच से सात बजे का जो समय मिलता है, उसमें वह खेलने जाता है।"

"तो तुम्हीं बताओ मैं क्या करूँ ?" बालों में हाथ फेरते हुए कुन्दन ने बहुत ही मुलायम स्वर में पूछा।

"कल मुझे पेपर पढ़ना है। पन्द्रह दिन पहले टॉपिक मिला था। एक लाइन भी नहीं लिखी है···अब कोई झूठा बहाना ही तो बनाना पड़ेगा।"

कुन्दन की उँगलियाँ बालों पर से उतरकर गालों पर फिसलने लगीं।

"दस साल पूरे हुए···छः, आठ महीने में अपनी थीसिस सबमिट कर देती तो मेरा सिलेक्शन-ग्रेड में आना निश्चित ही था, पर ऐसी हालत रही तो···"

रमा रो पड़ी।

दूर कहीं कुन्दन के कानों में डॉ० फिशर के शब्द गूँज रहे थे—जनवरी में जर्मनी से डाइरेक्टर आने वाले हैं, हमें यहाँ का सारा काम दिखाना होगा। एक नया प्लांट बिठाने की भी योजना है, उसके लिए कुछ रिस-पॉन्सिबल लोगों की जरूरत होगी···यू स्मार्ट यंग मैन ! बिजनेस में सोशल कॉन्टैक्ट्स पे करते हैं। यू विल हैव टु बी वेरी सोशल।"

कुन्दन को इन बातों में हमेशा अपने लिए कुछ संकेत, कुछ आश्वासन मिलते।

"लकीली योर वाइफ़ ··"

"तुम मुझे छोड़ जाया करो। कोई ज़रूरी है कि मैं हर दिन तुम्हारे साथ ही जाया करूँ?"

कुन्दन कुछ देर उसे यों ही सहलाता रहा, फिर एकाएक उसे बाँहों में भरता-सा बोला—"तुम्हें छोड़कर आज तक मैं कहीं गया हूँ, जा सकता हूँ। ऑफ़िस के अलावा हमेशा हम साथ जाते हैं। तुम तो जानती हो कि तुम्हारे बिना मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता।"

रमा खुद इस बात को जानती है। उनका आठ साल का विवाहित जीवन दोस्तों के बीच ईर्ष्या और प्रशंसा का विषय रहा है। समझ नहीं पाई क्या कहे! वह जब तक सो नहीं गई, कुन्दन उसे प्यार से थपथपाता रहा था। "मेम साहब, पराँठे अभी बनेंगे?"

"···ऐं?" चौंकते हुए रमा ने पूछा। फिर बोली—"नहीं-नहीं, साढ़े बारह बजे बनाना है, एक बजे हम कॉलिज जाएँगे आज। जितने एक चक्कर बाज़ार का लगा आऊँ, सोफ़े का कपड़ा लाकर दे दूँ।" उसने एक बार भीतर जाकर मिस्त्रियों को याद दिला दिया कि आज पॉलिश हर हालत में ख़तम कर देनी है।

फिर अपनी डायरी देखी—बाज़ार से और क्या-क्या सामान लाना है। कपड़े बदलने अन्दर गई तो देखा नौकर ने रैक से सारी किताबें निकाल रखी थीं और पोंछकर जमा रहा था।

इनमें से एक किताब भी उसने नहीं पढ़ी है, कुछ पर तो अभी तक अपना नाम भी नहीं लिखा है। कुन्दन ने भी जोश में आकर एक दिन में इतनी ढेर-सी किताबें खरीदकर सामने रख दी थीं।

बात शुरू दूसरे स्तर पर हुई थी। कुन्दन ऑफ़िस से लौटा था तो ।। किसी प्रसंग के रमा ने कहा—"मैं कॉलिज छोड़ दूँगी। इस तरह काम , से तो नहीं करना ज़्यादा अच्छा है।" स्वर में न कहीं तल्खी थी न

शिकायत, बड़े सहज स्वर में उसने कहा था।

कुन्दन देखता रहा। यही वाक्य था जिसे उसने अनेक बार अनेक तरह से मन-ही-मन में दोहराया था, पर कहने का मौका नहीं मिला था। अब तो उसे यह और भी जरूरी लग रहा था, क्योंकि जनवरी तक उसे अपना सारा घर डेकोरेट करना था···ओरियण्टल स्टाइल पर। फिर भी उसने पूछा—"क्या बात हो गई ?"

"कुछ नहीं।"

कुन्दन को इस समय और बात सोचना अच्छा नहीं लगा। चाय का प्याला हाथ में लिये ही लॉन में निकल गया। कैक्टस की जितनी वैराइटी ला सकता था, लाकर फाटक के दोनों ओर बड़ी खूबसूरत रॉकरीज़ बनाई थी। पर लॉन से वह अभी भी सन्तुष्ट नहीं था। चाहता था लॉन पर्शियन कार्पेट में बदल जाए।

रात में फिर वही प्रसंग चला। कुन्दन उससे बचना भी चाहता था और जानना भी चाहता था कि रमा ने सचमुच ही यह निर्णय ले लिया है या कि केवल कुन्दन पर अपना आक्रोश प्रकट कर रही है। पर रमा ने केवल इतना ही कहा—"अब निभता नहीं, कल इस्तीफा दे दूँगी।"

स्वर के भीगेपन ने कुन्दन को भी कहीं से छुआ ज़रूर, फिर भी सारी बात को एक हल्के मज़ाक में बदलने के लहज़े से उसने कहा, "छोड़ो भी यार, वैसे भी क्या रखा है एन्शिएण्ट हिस्ट्री पढ़ाने में ! चोल वंश, चेदि वंश के बारे में न भी जानेंगे तो कौन-सी ज़िन्दगी हराम हो जाएगी !"

रमा चुप !

"इसमें तो तुम खूब किताबें पढ़ो, मैगज़ीन्स पढ़ो···कुछ छुटपुट क्लासेज़ अटेण्ड कर लो। बण्टी को पढ़ाओ। दुनिया-भर के बच्चों को पढ़ाओ और अपना बच्चा निगलेक्ट हो···"

रमा चुप।

कुन्दन उस चुप्पी पर खीज आया, फिर भी अपने स्वर को भरसक-मधुर बनाकर बोला, "तुम्हें शायद लग रहा है कि मेरी वजह से, इस

नौकरी की वजह से तुम्हें अपना काम छोड़ना पड़ रहा है···पर यह तो सोचो, मुझे ही इस नौकरी में क्या दिलचस्पी है ? तुम्हारे लिए, बण्टी के के लिए···"

"मैंने तो ऐसा नहीं कहा। मैं तो यही सोच रही थी आखिर मेरे मन के सन्तोष के लिए क्या होगा ?"

"मेरा सन्तोष तुम्हारा सन्तोष नहीं है, मेरी तरक्की तुम्हारी तरक्की नहीं है ?"

"है क्यों नहीं ? मेरा यह मतलब नहीं था। दस साल से काम कर रही थी···छोड़ दूंगी तो मेरा मन कैसे लगेगा ?"

"मैं तो सोचता हूँ, तुम्हें यह सब सोचने का समय ही नहीं मिलेगा।" और शाम को उसने तीन बण्डल किताबें लाकर उसके सामने रख दी थीं।

और सचमुच उसके बाद उसे वह सब सोचने का समय ही कब मिला। आज भी मिसेज़ वर्मन के टेलीफ़ोन ने ही उसे कॉलेज की याद दिलायी, वर्ना···

सारे दिन गाड़ी में घूम-घूमकर उसने घर का सामान खरीदा है। पर्दों के लिए उसने लूम वालों से यह तय किया कि चालीस गज़ कपड़ा बनाकर वह उस डिज़ाइन को नष्ट कर देंगे, जिससे उसके जैसे पर्दे और कहीं देखने को भी न मिलें। डिज़ाइन भी उसने खुद पसन्द करके बनवाया था।

राजस्थान की किसी रियासत का बहुत-सा सामान नीलाम हुआ था। कितने दिनों तक वह वहाँ जा-जाकर बैठी थी—पुरानी पेंटिंग्ज़, झाड़फ़ानूस और भी सजावट की छोटी-मोटी चीज़ें उसने खरीदी थीं।

आज दरवाज़ों का पॉलिश समाप्त हो जाएगा तो सारा सामान जमाना है। डाइरेक्टर बम्बई आ गए हैं, अगले सप्ताह तक यहाँ आ जाएँगे, तब तक वह सब जमा लेगी। 'इण्टीरियर डेकोरेटर्स' वालों के यहाँ से एक आदमी बराबर आता रहा है। उसे फ़ोन करने का खयाल आया है।

लाइन एंगेज्ड थी।

बाहर जाने के लिए निकल ही रही थी कि टेलीफ़ोन की घण्टी

बजी। रमा ने रिसीवर उठाकर अपना नम्बर बोला, "ओह, मैं सोच रहा था तुम कहीं मार्केट के लिए नहीं निकल गयी होओ।"

"बस निकल ही रही थी।"

"सुनो डार्लिंग, लंच पर मेरे साथ एक साहब होंगे, यहीं के हैं, बहुत फॉर्मल होने की जरूरत नहीं है, बस जरा-सा देख लेना···डेकोरेटर को फोन किया?"

"किया था, पर लाइन नहीं मिली, लौटकर फिर करूँगी।"

"ओ-के।" खट!

रसोई में जाकर रमा ने कहा—"थोड़ी सब्जियाँ उबालकर इन उबले हुए आलुओं में मिला दो। परांठे नहीं बनेंगे, वेजिटेबिल कटलेट बना देना!

फिर उसने फ्रिज खोलकर देखा—सब-कुछ था। जब वह कालिज जाती थी तो कुन्दन का लंच ऑफिस जाता था, पर आजकल वह लंच के लिए घर ही आता है।

पहली तारीख! लंच के लिए कुन्दन आया। जब भी वह घर आता, एक बार सारे घर का चक्कर लगाता। इस नयी साज-सज्जा को हर एंगिल से देखता···और उसके चेहरे पर एक सन्तोषमय, गर्वयुक्त उल्लास चमकने लगता। कभी-कभी इसी उल्लास में रमा को बाँह में भरता हुआ कहता—"यू आर रीयली वण्डरफुल!" यों मुँह से चूमने की मर्यादा वह तोड़ नहीं पाया था, इसी से केवल उसे दबाकर छोड़ देता।

पूरा चक्कर लगाकर बोला—"माइ थिंक एवरी थिंग इज़ इन ट्यून! क्यों?"

कफ लगा पलिन नैपकिन लहराता हुआ उसकी गोद में फैल गया।

"अब कोई आए, मुझे चिन्ता नहीं। पाँच तारीख को डायरेक्टर आ रहे हैं—मैं इस बार एक बड़ी पार्टी घर पर ही करूँगा।"

रमा खाली भी आ रहीं दो और इसरी प्लेट

थी। जो चीज़ खतम हो जाती रख देती।

"बस यार, वो रोब पटकना है कि डाइरेक्टर की नज़रों में जम जाऊँ...एक बार ये लोग इम्प्रेस हो जाएँ तो रास्ता साफ़ है। डॉ० फिशर तो जब भी कोई मौक़ा आएगा, मेरे फेवर में ही राय देंगे।"

रमा कुन्दन के बच्चों-जैसे पुलकमय आवेश पर मन्द-मन्द मुस्कराती रही।

"मेम साहब, आपका फ़ोन है।"

"किसका है ? बोलो बाद में करें। मेम साहब इस समय लंच ले रही हैं।

कुन्दन इस समय रमा को वह सारी बातें सुनाना चाहता था, जो आज उसके और फिशर के बीच हुई थीं। कितने स्पष्ट थे सारे संकेत! फिर भी वह अपने अनुमानों का रमा से समर्थन करा लेना चाहता था।

"कॉलेज से मिसेज़ वर्मन का है।" बैरा लौटने लगा।

"अरे ठहरो।" और रमा एकदम उठ खड़ी हुई।

बातें शुरू हुईं तो वह भूल ही गयी कि कुन्दन खाने की मेज़ पर बैठा है और वह खाना बीच में ही छोड़कर आयी है।

"अरे डार्लिंग, आओ न! तुम औरतों का भी बस एक बार चरखा चल जाए तो खत्म ही नहीं होता।"

रमा लौट ही रही थी—"चरखा क्या, कोई इतने अपनेपन से बुलाए तो मैं ठीक से बात भी न करूँ! यह भी कोई बात हुई भला?"

"अच्छा-अच्छा, अब अपना खाना खतम करो।'

"तुम्हारा हो गया तो तुम उठो न!"

"नो...नो...' यह कैसे हो सकता है भला!"

खाने के बाद कॉफ़ी लेकर, ईज़ी चेयर पर आराम करते हुए कुन्दन ने सिगरेट सुलगा ली और गोल-गोल छल्ले के रूप में धुआँ उगलता रहा। [illegible] रोज़ की तरह पाँच मिनट के लिए आँख मूंद ली। रमा अखबार [illegible]।

"अब चलें।" झटके से कुन्दन उठ खड़ा हुआ।

कोट उठाया तो तनख्वाह की याद आयी। भीतर के जेब से नोट के दो बण्डल निकाले—एक बड़ा, दूसरा छोटा।

"अरे यह क्या, तनख्वाह ले आए? आज क्या पहली तारीख हो गयी?" रमा को आजकल तारीख और दिनों का कुछ खयाल ही नहीं रहता।

"ये आया, बैरा और खानसामा के हैं। पचसी, अस्सी और सौ।" छोटा बण्डल बढ़ाते हुए कुन्दन ने कहा। रमा ने बण्डल ले लिया।

"और यह तुम्हारा है।" फिर ज़रा-सा झुककर बोला।

"अब जो मुनासिब समझो, इस गुलाम को पान-सिगरेट के लिए दे देना।" और हँस पड़ा। रमा भी मुस्करा दी।

"टा···टाई···" और लाल बजरी की सड़क पर तैरती हुई कुन्दन की कार रमा को वहीं छोड़कर आगे चली गयी।

१

बन्द दराज़ों का साथ

उसकी मेज़ बहुत बड़ी थी। और तीन दराज़ों में बँटी हुई थी। बायीं ओर वाली दराज़ व्यक्तिगत थी, बीचवाली पारिवारिक और दाहिनी को चाहें तो सामाजिक कह लें। यह विभाजन मंजरी का ही किया हुआ था, जो उसने काफ़ी दिनों बाद किया था, उन दिनों जबकि उन दोनों के बीच भी एक विभाजन-रेखा खिंच गयी थी। आरम्भ के दिनों में तो उसका ध्यान दराज़ों की ओर क्या जाता, मेज़ की ओर भी नहीं गया था। तब सारे घर में पलंग ही सबसे आकर्षक लगता था और मन करता था कि दिन के चौबीस घण्टे किसी तरह रात के आठ घण्टों में ही सिमट आयें। विपिन का शरीर उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का पर्याय बना हुआ था और यह बात कभी दिमाग़ में भी नहीं आती थी कि शरीर से परे भी उसका कोई व्यक्तित्व और अस्तित्व हो सकता है, सम्बन्ध और सम्पर्क हो सकते हैं, कोई अपना जीवन हो सकता है।

पर यह सब बहुत शुरू की बातें थी। उन दिनों की, जब मनों में कोई भेद नहीं था और इसीलिए जैसे सब तरफ़ के भेद मिट गये थे। सारी ऋतुएं वसन्त के समान सुहानी लगती थीं। आराम के समय काम की चुस्ती का अहसास होता रहता था और काम करने में भी अजीब तरह का आराम मिलता था।

वह वसन्त की सुहानी सुबह थी। गीले बालों की ढीली-सी चोटी ाँधकर बड़े मन से मंजरी ने मटर-चिउड़ा बनाया था। हर काम वह बड़े से करती थी और उसके गीत सारे घर में गूंजा करते थे। वह ट्रे में

सारा सामान सजाकर ले गयी, तभी उसने विपिन को कुछ कागजों में डूबे हुए पाया।

"इतना मगन होकर क्या पढ़ रहे हो?" उसने हँसते हुए पूछा था तो विपिन हलके से सकपका गया और सारी बात को टालते हुए उसने ढेर सा चिउड़ा अपनी प्लेट में डाल लिया था। मंजरी को लगा कि उस दिन वह कुछ ज़रूरत से ज्यादा तारीफ करने के मूड में आया हुआ है। वह लगातार प्रसंगहीन बातें किये चला जा रहा था, पर सब कुछ मंजरी के मन को छुए बिना ही निकल गया।

रोज की तरह दोनों साथ ही घर से निकले थे, पर वह एक पीरियड के बाद ही सिरदर्द का बहाना करके घर लौट आयी। सारे रास्ते उसका सिर चकराता रहा था। घर में घुसते समय जाने क्यों लगा, जैसे वह किसी और के घर में घुस रही है।

वह सीधी टेबल के पास गयी। टेबल पर पड़ी पुस्तकें, फ़ाइलें, कागज-पत्तर सब उसने पलटे, पर वे कागज नहीं थे। उसे खुद आश्चर्य हो रहा था, एक झलक भर में उसने कैसे उन कागज़ों की ऐसी गहरी पहचान कर ली। उसने झटके से पहली दराज खोली। उसमें कुछ मित्रों और रिश्तेदारों के पत्र थे। एक-दो विवाह के निमन्त्रण-पत्र थे, अपाइण्टमेण्ट की डायरी थी, अखबारों की कुछ कतरनें थीं। उसने बीच की दराज खोली, उसमें पास-बुक और चैक-बुक थीं, मकान और बिजली के बिल की रसीदें थीं। एक ओर तहाये हुए कुछ रूमाल पड़े थे। उसने तीसरी दराज खींची तो वह खुली नहीं। उसमें ताला लगा हुआ था। दराज़ में ताला होना न कोई ऐसी अनहोनी बात है, न ही ऐसी भयंकर, फिर भी वह भीतर तक काँप उठी थी। उसने सारा घर छान मारा पर उसे चाबियाँ नहीं मिलीं। और तब सचमुच ही उसका सिर बुरी तरह दर्द करने लगा था और वह मुँह पर साड़ी का पल्ला डालकर सारे दिन लेटी रही।

उस रात जब वह सोयी तो भीतर ही भीतर द...

था। रुलाई का वेग जैसे फूटा पड़ना चाहता था, फिर भी उसने सोच लिया था कि वह जब तक सारी बात का पता नहीं लगा लेगी, तब तक एक शब्द भी नहीं कहेगी। रोज़ की तरह विपिन ने उसे बाँहों में भर लिया था पर जाने क्यों, उसने भीतर ही भीतर महसूस किया कि उसके साथ सोनेवाला, उसे प्यार करनेवाला विपिन सम्पूर्ण नहीं है, केवल एक खण्ड है, एक टुकड़ा। सम्पूर्ण विपिन उसे हमेशा फूल की तरह हलका लगता था, पर खण्डित विपिन का बोझ उसके लिए जैसे असह्य हो उठा। बार-बार उसका मन करता रहा कि वह उसी से साफ़-साफ़ पूछ ले, लड़ ले, झगड़ ले पर दराज़ का ताला जैसे उसकी ज़बान पर आकर लग गया था। वह सारी रात कसमसाती रही, पर बोला उससे कुछ नहीं गया था।

औरत की नजर यों ही बड़ी पैनी होती है, फिर उस पर यदि सन्देह की सान चढ़ जाये तो आकाश-पाताल चीरने में भी उसे देर नहीं लगती। दूसरे दिन ही वह बन्द दराज़ उसके सामने खुली पड़ी थी, जो विपिन की निहायत निजी और व्यक्तिगत थी। कुछ डायरियां, एक महिला और बच्ची की तस्वीरें, पत्र, कांच की ट्यूब में गोलियाँ…और क्रोध, घृणा, दुख की मिली-जुली भावनाओं का तूफ़ान उसके मन में उठ रहा था। सिर थामकर वह घण्टों वहीं बैठी रही थी। फूट-फूटकर रोती रही थी। उसे बराबर लग रहा था कि जिसे धरती समझकर उसने पैर रखा था, वहाँ शून्य था, कि जैसे वह एकाएक बेसहारा हो गयी है। उसे अपने घर की छत और दीवारें सब हिलती नजर आने लगी थीं।

क्योंकि दराज़ में विपिन का केवल अतीत ही नहीं था, वर्तमान भी था और उसमें भविष्य की योजनाएँ भी। वह जैसे-जैसे विपिन के व्यक्तिगत जीवन के निकट होती जा रही थी, अनजाने और अनचाहे ही विपिन से दूर होती जा रही थी। धीरे-धीरे मनों की यह दूरी शरीरों में भी फैलती चली गयी थी। और वे अनायास ही एक दूसरे के लिए निहायत अपरिचित-से हो गये। फिर उनके हिसाब अलग रहने लगे, सम्पर्क और सम्बन्ध

अलग हुए।

दोनों के पास अपने-अपने तर्क थे और दोनों ही इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि ये तर्क उन्हें कहीं नहीं ले जायेंगे। फिर भी हर तीसरे दिन घण्टों बहसें होती थीं और उसकी समाप्ति मंजरी के आँसू ही करते थे। अब स्नेह का स्थान सन्देह ने ले लिया था और तर्कों ने सद्भावना के रेशे-रेशे उधेड़ दिये थे।

तब मंजरी अपने ही घर में बहुत अकेली हो उठी थी और सब कुछ बड़ा वीरान लगने लगा था। हर काम बोझ लगने लगा था। खाली समय और भी बोझिल। वह घण्टों किताब खोले बैठी रहती थी, पर पंक्तियाँ केवल आँखों के नीचे से गुज़रती थीं, मन उनमें अछूता रहता था। कापियाँ देखने बैठती तो उसकी साथिनें मज़ाक करती थीं कि वह इम्तिहान की कापियाँ देख रही है या प्रूफ। विपिन से सम्बन्ध क्या गड़बड़ाया था उसकी समस्त इन्द्रियों के आपसी सम्बन्ध गड़बड़ा गये थे।

वह घर के सारे खिड़की-दरवाज़े खुले रखती थी फिर भी लगता रहता था कि साफ़ हवा के अभाव में घर की हवा धीरे-धीरे ज़हरीली होती जा रही है और कोई है, जो उसके देखते-देखते मरता जा रहा है। न वह उसे बचा सकती है और न ही निर्दयतापूर्वक मार सकती है। यों भीतर ही भीतर वह तरह-तरह के सकल्प करती थी, पर उसने उन्हें कभी विचारों से आगे नहीं बढ़ने दिया, क्योंकि घर में बहुत जल्दी ही एक तीसरा प्राणी आनेवाला था। उसने उसके और अपने दुर्भाग्य को साथ-साथ ही कोसा था, पर उसके बावजूद मन में कहीं एक हलकी-सी आशा भी झाँकने लगी थी, शायद यह अनागत ही उनके बीच में कहीं सेतु बन जाये।

पर सालभर के भीतर ही भीतर उसने अच्छी तरह जान लिया कि इस युग में आशा करना ही मूर्खता है, क्योंकि आज जिन्दगी का हर पहलू, हर स्थिति और हर सम्बन्ध एक समाधानहीन समस्या होकर रह गया है, जिसे सुलझाया नहीं जा सकता, केवल भोगा जा सकता

आदमी निरन्तर बिखरता और टूटता चलता है। और वह भी दो साल तक और बिखरी और टूटी थी। विपिन मन में कहीं हलका-सा आश्वस्त महसूस करने लगा था कि मंजरी ने शायद इस सबको स्वीकार लिया है, कि शायद अब वह कटेगी नहीं।

पर ऐसा हुआ नहीं। शादी की पांचवीं साल गिरह थी। वह दिन अपने सारे अर्थ खो चुकने पर भी दिन तो बना ही हुआ था। यों इस दिन न चाहने पर भी वह अपने को बहुत दुर्बल महसूस करती थी। उसकी यातना कई गुना बढ़ जाती थी। पर इस बार उसने वैसा कुछ भी अनुभव नहीं किया और बड़े आग्रह से विपिन को कहा था कि वह उसे संध्या के पांच बजे ला-बोहीम में मिले।

ला-बोहीम का अँधेरा कोना। आस-पास की मेजें खाली थीं और अपनी मेज़ पर लटकती बत्ती को उसने बुझा दिया था। अँधेरा होने के साथ ही मंजरी के मन में एक क्षण को यह बात आयी थी कि आज के इस अँधेरे से ही वे चाहें तो अपनी ज़िन्दगी में कितनी रोशनी ला सकते हैं। उस समय भीतर ही भीतर कुछ कसका भी था, पर दूसरे ही क्षण उसने अपने को सहज बना लिया, यह सोचकर कि यह निरी भावुकता है और भावुकता को लेकर आदमी केवल कष्ट पा सकता है, जी नहीं सकता। मंजरी जीना चाहती थी—अपने लिए और अपने बच्चे के लिए।

और तीन घण्टे के बाद जब वे वहाँ से निकले तो उसे स्वयं आश्चर्य हो रहा था कि कैसे वह इतने सहज और तटस्थ ढंग से सारी बात कर सकी, मानो ये सारे निर्णय उसने अपने लिए नहीं, किसी और के लिए लिये हों। वह खुद जानती है कि [illegible] तरह तटस्थ नहीं रह सकतीं, खासकर ऐसे सांघातिक [illegible] नहीं कर सकतीं, [illegible] रो सकती हैं, झार-झार [illegible] को [illegible] आश्चर्य

व्यावहारिक रूप देने के लिए वह अपना सारा सामान बटोरकर, दो महीने की छुट्टी ले दिल्ली से विदा हुई थी। विपिन ने बच्चे को बहुत प्यार किया था और एक बार उसे भी। फिर बहुत ठण्डे स्वर में कहा था—"मैं दिल्ली छोड़ दूंगा। इस सबके बाद मुझ से यहाँ रहा भी नहीं जायेगा। तुम शायद यहीं लौटकर आना पसन्द करोगी। इस घर को अपने नाम ही रहने दो।"

मंजरी तब तक यह तय नहीं कर पायी थी कि उसे कहाँ रहना है, क्या करना है। केवल एक विश्वास था कि जिस सहज ढंग से वह सारी स्थिति में उबरी है, उसी तरह नयी जिन्दगी का रास्ता भी खोज लेगी। फिर भी उसने घर अपने ही नाम रहने दिया। मानसिक तनाव के ऐसे विकट क्षणों में भी उसकी व्यावहारिक बुद्धि कुण्ठित नहीं हुई, तभी उसे लगा कि विपिन से ब्याह करके आनेवाली मंजरी पूरी तरह मर चुकी है। यह तो उसकी लाश से पैदा हुई दूसरी ही मंजरी है।

एन समय पर बहुत बड़ा नाटक होने की सम्भावना थी। बच्चे को लेकर कुछ हो सकता, पर कुछ नहीं हुआ। ऊपर से बड़े सहज ढंग से कुछ औपचारिक से वाक्यों का आदान-प्रदान हो रहा था और भीतर से मन मरे हुए थे। ट्रेन, प्लेटफार्म और प्लेटफार्म पर खड़े विपिन को पीछे छोड़कर आगे बढ़ गयी थी और सब कुछ मंजरी ने सूखी आँखों से ही देखा था।

जब सब पीछे छूट गया तो भीतर से एक गहरी निःश्वास निकली थी, शायद मुक्ति की। अपने ही शरीर का फोड़ा जब सूख जाता है तो मरी हुई खाल को शरीर से खींचकर अलग करते समय जैसी भावना आती है, कुछ-कुछ वैसी ही।

दो महीने बाद वह उसी घर में लौटी थी। सबने उसे देखकर पूछा था कि क्या वह बीमार रहकर आयी है, वह बहुत दुबली हो गयी है, उसका चेहरा सूखा और काला हो गया है। उसे स्वयं महसूस होता था, पर इस सबसे कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता था। उसने वहाँ आकर सबसे पहले

एकाएक उसे बहुत-बहुत अकेलापन लगने लगा, नौकरी बोझ लगने लगी और जीवन नीरस।

कभी-कभी वह अकेले क्षणों में सोचती, कि नहीं, वह अब जिन्दगी की राहों को बदलेगी नहीं। जिस तटस्थता से उसने सब कुछ झेला और अपने को टूटने नहीं दिया, उससे उसे लगने लगा था, जैसे वह बहुत बड़ी हो गयी है, मैच्योर हो गयी है। इस उम्र में यह सब शायद उसके लिए सम्भव नहीं होगा। पर जब भी वह चेहरा करीब आता, अनायास ही उसकी उम्र के दस साल कहीं चले जाते और तब वह सोचती कि नहीं, कहीं कुछ नहीं बिगड़ा है। दिनों ने गुजर कर उसकी उम्र की संख्या में जरूर वृद्धि कर दी है पर भावनाएँ तो आज भी अछूती ही हैं। जिन्दगी के वे सुनहरे दिन, जब उसे अपनी भावनाओं को स्वर्ण करना था, मरे हुए सम्बन्धों की लाश ढोने में ही बीत गये।

फिर भी उसने तीन साल तक कोई निर्णय नहीं लिया। उसने सोचा था, केवल सोचा ही नहीं, चाहा था, बहुत सच्चाई और ईमानदारी से चाहा था कि जैसे वह विपिन के सम्बन्ध से उबर गयी थी, इस अकेलेपन से भी उबर जाये। पर उसने पाया कि वह अपने बेटे के सहारे अपने अकेलेपन से लड़ने की कोशिश कर रही है। उसे खुद महसूस हुआ कि असित के प्रति उसका व्यवहार कहीं असन्तुलित होता चला जा रहा है। लोगों ने उसे दबी-दबी जबान से सलाह दी थी कि उसे असित को हॉस्टल भेज देना चाहिए। पहले वह बराबर विरोध करती रही थी—कुछ आर्थिक कारणों से और कुछ इसलिए कि उसे भेजकर वह स्वयं कितनी अकेली हो जायेगी। पर फिर उसे खुद लगा था कि वह अपना अकेलापन खत्म करने के लिए, बच्चे का सारा भविष्य खत्म किये दे रही है।

तब उसने दो निर्णय एक साथ लिये थे। वह असित को हॉस्टल भेज देगी। वह अपना अकेलापन समाप्त करने के लिए सही और स्वाभाविक मार्ग ही अपनायेगी।

उसे इस बात पर खुशी भी हुई थी और हलका-सा गर्व भी कि स्थिति

दिलीप अब साथ आ गया था और इसलिए ज़िन्दगी के दस वर्ष एकदम चले गये थे। घर बदल गया था और बिल्कुल नये ढंग से सजाया गया था। नये घर की साज-सज्जा में हमेशा कुछ-न-कुछ गुनगुनाते हुए वह काम किया करती थी। नौकरी उसने छोड़ दी थी, क्योंकि साथिनों की नजरों में झाँकती हिकारत उससे बर्दाश्त नहीं होती थी। वैसे भी इस काम से वह बहुत ऊब चुकी थी। अब दिसम्बर की सरदी में सारी रात किसी की बाँहों में गरमाये रहने के बाद जब उसकी अलस आँखें खुलतीं तो सामने की ड्रेसिंग-टेबल पर उसे अपने प्रसाधन की अनेक चीज़ें सजी हुई दिखायी देती थीं, छमाही इम्तिहान की काँपियों का गट्ठर नहीं। तब मन बहुत हलका और आश्वस्त हो आता था।

छुट्टियों में असित घर आया था। दिलीप को वह बराबर घर में देखता रहता था, सो मंजरी को दोनों को परिचित करने वाला संकट नहीं झेलना पड़ा। असित के आने से मंजरी बहुत प्रसन्न थी और उसे समझ नहीं आता था कि उसे क्या खिलाये, कहाँ घुमाये। दिलीप के जाते ही वह उसे लेकर निकल जाती। दिसम्बर की सुहानी धूप सारी दिल्ली को बेहद सुहाना और उत्फुल्ल बनाकर सड़कों-मैदानों पर फैली रहती थी। शाम को वे लौटते, तो दोनों के हाथों में असित के फ़रमाइशी पैकेट होते थे।

छुट्टियाँ समाप्त होने पर असित लौटने लगा। उसके स्कूल के बच्चों का पूरा ग्रुप था। स्कूल से छः महीने का बिल भी आया था। दिलीप ने यों ही कह दिया—"यह स्कूल काफ़ी महँगा है, इस महीने यों भी काफ़ी खर्च हो गया तो मंजरी के चेहरे पर एक हलकी-सी छाया तैर गयी। बात साधारण थी और सच्ची भी। असित दिलीप का बच्चा होता तब

भी वह यह बात कह सकता था। पर असित दिलीप का बच्चा नहीं था और क्योंकि सन्दर्भ दूसरा था इसलिए बात का अर्थ भी दूसरा हो गया। दिलीप ने शायद स्थिति को भाँप लिया और सारी बात को सहज बनाने के लिए कहा, "क्या ज़माना आ गया है, हम इतना पढ़ लिये हैं पर ऐसी लम्बी-चौड़ी फ़ीस नहीं दी।" पर बात फिर भी शायद सहज नहीं हो पायी थी। तब मंजरी को पहली बार अपनी नौकरी छोड़ने पर अफ़सोस हुआ।

और उसके बाद धीरे-धीरे फिर उस घर में एक अदृश्य मेज़ उभर आयी थी, पर वह मेज़ दिलीप के कमरे में नहीं, मंजरी के कमरे में आयी थी और वह दो दराज़ों में बँटी हुई थी—एक व्यक्तिगत, एक पारिवारिक, व्यक्तिगत दराज़ में असित के फ़रमाइशी-पत्र, उसके चित्र, उसके स्कूल की रिपोर्ट और विपिन के कुछ औपचारिक पत्र थे, जिनमें यह आश्वासन दिया गया था कि असित का आधा ख़र्च वह दिया करेगा।

और मेज़ का वह विभाजन फिर पहले की तरह मन और शरीरों में होता हुआ सारे घर में फैल गया था। बाहर से कहीं कुछ नहीं था—न बातचीत में, न व्यवहार में। पर अनजाने और अनचाहे ही भीतर से जैसे मन बँट गये थे, ज़िन्दगी बँट गयी थी। इस बार हालांकि प्रसंग और स्थितियाँ दूसरी थीं, पर बँटने की पीड़ा वही थी, वैसी ही थी।

रात में, दिन में, लेटे-लेटे मंजरी न जाने क्या-क्या सोचा करती! जब-तब विपिन भी याद आने लगा और आश्चर्य यह कि उसका यों याद आना अब उतना बुरा भी नहीं लगता। फिर भी वह इस एहसास से मुक्त नहीं हो पाती कि विपिन ने केवल अपनी ज़िन्दगी को ही टुकड़ों में नहीं काटा, कितने कौशल से वह उसकी ज़िन्दगी को भी टुकड़ों में काट गया है कि आगे उसे सारी ज़िन्दगी ही इन टुकड़ों को अभिशप्त छाया में काटनी होगी कि वह अब भी अपनी सम्पूर्ण ज़िन्दगी नहीं जी पायेगी।

एक प्लेट सैलाब

मई की साँझ !

साढ़े छह बजे हैं। कुछ देर पहले जो धूप चारों ओर फैली पड़ी थी, अब फीकी पड़कर इमारतों की छतों पर सिमट आयी है, मानो निरन्तर समाप्त होते अपने अस्तित्व को बचाये रखने के लिए उसने कसकर कगारों को पकड़ लिया हो।

आग बरसाती हुई हवा धूल और पसीने की बदबू से बहुत बोझिल हो आयी है। पाँच बजे तक जितने भी लोग ऑफ़िस की बड़ी-बड़ी इमारतों में बन्द थे। इस समय बरसाती नदी की तरह सड़कों पर फैल गये हैं। रीगल के सामने वाले फुटपाथ पर चलनेवालों और हॉकर्स का मिला जुला शोर चारों ओर गूंज रहा है। गजरे बेचनेवालों के पास से गुज़रने पर सुगन्ध-भरी तरावट का अहसास होता है, इसीलिए न खरीदने पर भी लोगों को उनके पास खड़ा होना या उनके पास से गुज़रना अच्छा लगता है।

टी-हाउस भरा हुआ है। उसका अपना ही शोर काफ़ी है, फिर बाहर का सारा शोर-शराबा बिना किसी रुकावट के खुले दरवाज़ों से भीतर आ रहा है। छतों पर फ़ुल स्पीड में घूमते पंखे भी जैसे आग बरसा रहे हैं। एक क्षण को आँख मूंद लो तो आपको पता ही नहीं लगेगा कि आप टी-हाउस में हैं या फ़ुटपाथ पर। वही गरमी, वही शोर।

गे लॉर्ड भी भरा हुआ है। पुरुष अपने एयर-कण्डिशण्ड चेम्बरों से थककर और औरतें अपने-अपने घरों से ऊबकर मन बहलाने के लिए

यहाँ आ बैठे हैं। यहाँ न गरमी है,न भन्नाता हुआ शोर। चारों ओर हल्का शीतल, दूधिया आलोक फैल रहा है और विभिन्न सेण्टों की मादक कॉकटेल हवा में तैर रही है। टेबलों पर से उठते हुए फुसफुसाते से स्वर संगीत में ही डूब जाते हैं।

गहरा मेकअप किये डायस पर जो लड़की गा रही है, उसने अपनी स्कर्ट की बेल्ट खूब कसकर बाँध रखी है, जिससे उसकी पतली कमर और भी पतली दिखाई दे रही है और उसकी तुलना में छातियों का उभार कुछ और मुखर हो उठा है। एक हाथ से उसने माइक का डण्डा पकड़ रखा है और जूते की टो से वह ताल दे रही है। उसके होठों में लिपस्टिक भी लिपटी है और मुसकान भी। गाने के साथ-साथ उसका सारा शरीर एक विशेष अदा के साथ झूम रहा है। पास में दोनों हाथों से झुनझुने-से बजाता जो व्यक्ति सारे शरीर को लचका-लचकाकर ताल दे रहा है, वह नीग्रो है। बीच-बीच में जब वह उसकी ओर देखती है तो आँखें मिलते ही दोनों ऐसे हँस पड़ते हैं मानो दोनों के बीच कहीं 'कुछ' है। पर कुछ दिन पहले जब एक एंग्लो-इण्डियन उसके साथ बजाता था, तब भी यह ऐसे ही हँसती थी, तब भी इसकी आँखें ऐसे ही चमकती थीं। इसकी हँसी और इसकी आँखों की चमक का इसके मन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वे अलग ही चलती हैं।

डायस की बगलवाली टेबल पर एक युवक और युवती बैठे हैं। दोनों के सामने पाइन-एप्पल जूस के गिलास रखे हैं। युवती का गिलास आधे से अधिक खाली हो गया है, पर युवक ने शायद एक-दो सिप ही लिये हैं। वह केवल स्ट्रॉ हिला रहा है।

युवती दुबली और गोरी है। उसके बाल कटे हुए हैं। सामने आ जाने पर सिर को झटका देकर वह उन्हें पीछे कर देती है। उसकी कलफ लगी साड़ी का पल्ला इतना छोटा है कि कन्धे से मुश्किल से छह इंच नीचे तक

आ पाया है। चोलीनुमा ब्लाउज से ढकी उसकी पूरी की पूरी पीठ दिखाई दे रही है।

"तुम कल बाहर गयी थीं ?" युवक बहुत ही मुलायम स्वर में पूछता है।

"क्यों ?" बायें हाथ की लम्बी-लम्बी पतली उंगलियों से ताल देते-देते ही वह पूछती है।

"मैंने फ़ोन किया था।"

"अच्छा ? पर किसलिए ? आज मिलने की बात तो तय हो ही गयी थी।"

"यों ही तुमसे बात करने का मन हो आया था। युवक को शायद उम्मीद थी कि उसकी बात की युवती के चेहरे पर कोई सुखद प्रतिक्रिया होगी। पर वह हल्के से हँस दी। युवक उत्तर की प्रतीक्षा में उसके चेहरे की ओर देखता रहा, पर युवती का ध्यान शायद इधर-उधर के लोगों में उलझ गया था। इस पर युवक खिन्न हो आया। वह युवती के मुँह से सुनना चाह रहा था कि वह कल विपिन के साथ स्कूटर पर घूम रही थी। इस बात के जवाब में वह क्या-क्या कहेगा—यह सब भी उसने सोच लिया था और कल शाम से लेकर अभी युवती के आने से पहले तक उसको कई बार दोहरा भी लिया था। पर युवती की चुप्पी से सब गड़बड़ा गया। वह अब शायद समझ ही नहीं पा रहा था कि बात कैसे शुरू करे।

"ओ गौरा !" बाल्कनी की ओर देखते हुए युवती के मुँह से निकला—"यह सारी की सारी बाल्कनी किसने रिजर्व करवा ली ?"

बाल्कनी की रेलिंग पर एक छोटी-सी प्लास्टिक की सफ़ेद तख़्ती लगी थी, जिस पर लाल अक्षरों में लिखा था—'रिज़र्व्ड'।

युवक ने सिर नीचे झुकाकर एक सिप लिया—"मैं तुमसे कुछ बात करना चाहता हूँ।" उसकी आवाज़ कुछ भारी हो आयी थी, जैसे गला बैठ गया हो।

युवतीने सिप लेकर अपनी आँखें युवक के चेहरे पर टिका दीं। वह

हल्के-हल्के मुसकरा रही थी और युवक को उसकी मुसकराहट से थोड़ा कष्ट हो रहा था।

"देखो, मैं इस सारी बात मे बहुत गम्भीर हूँ।" झिझकते-से स्वर मे वह बोला।

"गम्भीर?" युवती खिलखिला पड़ी तो उसके बाल आगे को झूल आये। सिर झटककर उसने उन्हें पीछे किया।

"मैं तो किसी भी चीज़ को बहुत गम्भीरता मे लेने मे विश्वास ही नही करती। ये दिन तो हँसने-खेलने के हैं, हर चीज़ को हल्के-फुल्के ढग से लेने के। गम्भीरता तो बुढ़ापे की निशानी है। बूढ़े लोग मच्छरों और मौसम को भी बहुत गम्भीरता से लेते है और मैं अभी बूढ़ा होना नही चाहती।" और उसने अपने दोनो कन्धे ज़ोर से उचका दिये। वह फिर गाना सुनने मे लग गयी। युवक का मन हुआ कि वह उसकी मुलाकातों और पुराने पत्रो का हवाला देकर उससे अनेक बातें पूछे, पर बात उसके गले में ही अटककर रह गयी और वह खाली-खाली नज़रो से इधर उधर देखने लगा। उसकी नज़र 'रिज़र्व्ड' को उस तख्ती पर जा लगी। एकाएक उसे लगने लगा जैसे वह तख्ती वहाँ से उठकर उन दोनों के बीच आ गयी है और प्लास्टिक के लाल अक्षर नियॉन लाइट के अक्षरों की तरह दिप्-दिप् करने लगे हैं।

तभी गाना बन्द हो गया और सारे हॉल मे तालियों की गड़गड़ाहट गूँज उठी। गाना बन्द होने के साथ ही लोगों की आवाज़ें धीमी हो गयीं, पर हॉल के बीचों-बीच एक छोटी टेबल के सामने बैठे एक स्थूलकाय खद्दरधारी व्यक्ति का धाराप्रवाह भाषण स्वर के उसी स्तर पर जारी रहा। सामने पतलून और बुश-शर्ट पहने एक दुबला-पतला-सा व्यक्ति उनकी बातों को बड़े ध्यान से सुन रहा है। उनके बोलने से थोड़ा-थोड़ा थूक उछल रहा है जिसे सामनेवाला व्यक्ति ऐसे पोंछता है कि उन्हें मालूम न हो। पर उनके पास शायद इन छोटी-मोटी बातो पर ध्यान देने लायक समय ही नही है। वे मूड मे आये हुए हैं—"गाधीजी की पुकार पर कौन

व्यक्ति अपने को रोक सकता था भला ? क्या दिन थे वे भी ! मैंने बिजनेस की तो की ऐसी की तैसी और देश-सेवा के काम में जुट गया। फिर तो सारी जिन्दगी पॉलिटिकल-सफरर की तरह ही गुजार दी !"

सामनेवाला व्यक्ति चेहरे पर श्रद्धा के भाव लाने का भरसक प्रयत्न करने लगा। "देश आजाद हुआ तो लगा कि असली काम तो अब करना है। सब लोग पीछे पड़े कि मैं खड़ा होऊं, मिनिस्ट्री पक्की है, पर नहीं साहब, यह काम अब अपने बस का नहीं रहा। जेल के जीवन ने काया को जर्जर कर दिया फिर यह भी लगा कि नव-निर्माण में नया खून ही आना चाहिए, सो बहुत पीछे पड़े तो बेटों को झोंका इस चक्कर में। उन्हें समझाया, जिन्दगी-भर के हमारे त्याग और परिश्रम का फल है यह आज़ादी, तुम लोग अब इसकी लाज रखो, बिजनेस हम सम्भालते हैं।"

युवक शब्दों को ठेलता-सा बोला—"आपकी देश-भक्ति को कौन नहीं जानता ?"

वे सन्तोष की एक डकार लेते हैं और जेब से रूमाल निकालकर अपना मुँह और मूँछों को साफ़ करते हैं। रूमाल वापस जेब में रखते हैं और पहलू बदलकर दूसरी जेब से चाँदी की डिबिया निकालकर पहले खुद पान खाते हैं, फिर सामने वाले व्यक्ति की ओर बढ़ा देते हैं।

"जी नहीं, मैं पान नहीं खाता।" कृतज्ञता के साथ ही उसके चेहरे पर बेचैनी का भाव उभर जाता है।

"एक यही लत है जो छूटती नहीं।" पान की डिबिया को वापस जेब में रखते हुए वे कहते हैं, "इंग्लैण्ड गया तो हर सप्ताह हवाई जहाज से पानों की गड्डी आती थी।"

जब मन की बेचैनी केवल चेहरे से नहीं सम्भलती तो वह धीरे-धीरे हाथ रगड़ने लगता है।

पान को मुँह में एक ओर ठेलकर वे थोड़ा-सा हकलाते हुए कहते हैं, "अब आज की ही मिसाल लो। हमारे वर्ग का एक भी आदमी गिना दो जो अपने यहाँ के कर्मचारी की शिकायत इस प्रकार सुनता हो ? पर जैसे

ही तुम्हारा केस मेरे सामने आया, मैंने तुम्हें बुलाया, यहाँ बुलाया।"

"जी हाँ।" उसके चेहरे पर कृतज्ञता का भाव और अधिक मुखर हो जाता है। वह अपनी बात शुरू करने के लिए शब्द ढूँढने लगता है। उसने बहुत विस्तार से बात करने की योजना बनायी थी, पर अब सारी बात को संक्षेप में कह देना चाहता है।

"सुना है, तुम कुछ लिखने-लिखाने भी हो ?"

एकाएक हाल में फिर संगीत गूँज उठता है। वे अपनी आवाज़ को थोड़ा और ऊँचा करते हैं। युवक का उत्सुक चेहरा थोड़ा और आगे को झुक आता है।

"तुम चाहो तो हमारी इस मुलाकात पर एक लेख लिख सकते हो। मेरा मतलब···लोगों को ऐसी बातों से नसीहत और प्रेरणा लेनी चाहिए ·· यानी···" पान शायद उन्हें वाक्य पूरा नहीं करने देता।

तभी बीच की टेबल पर 'आई ··उई'···का शोर होता है और सब का ध्यान अनायास ही उधर चला जाता है। बहुत देर से ही वह टेबल लोगों का ध्यान अनायास ही खींच रही थी। किसी के हाथ से कॉफी का प्याला गिर पड़ा है। बैरा झाड़न लेकर दौड़ पड़ा और असिस्टेण्ट मैनेजर भी आ गया। दो लड़कियाँ खड़ी होकर अपने कुर्तों को रूमाल से पोंछ रही हैं। बाकी लड़कियाँ हँस रही हैं। सभी लड़कियों ने चूड़ीदार पाजामे और ढीले-ढाले कुर्ते पहन रखे हैं। केवल एक लड़की साड़ी में है और उसने ऊँचा-सा जूड़ा बना रखा है। बातचीत और हाव-भाव से वे सब 'सिरेण्डियन्स' लग रही हैं। मेज़ साफ होते ही खड़ी लड़कियाँ बैठ जाती हैं और उनकी बातों का टूटा क्रम (?) चल पड़ता है।

"पापा को इस बार हार्ट-अटैक हुआ है सो छुट्टियों में कहीं बाहर तो जा नहीं सकेंगे। हमने तो सारी छुट्टियाँ यहीं बोर होना है। मैं और मम्मी सप्ताह में एक पिक्चर तो देखते ही हैं, इट्स ए मस्ट फॉर अस।

छुट्टियों में तो हमने दो देखनी हैं।"

"हमारी किटी ने बड़े स्वीट पप्स दिये हैं। डैडी इस बार उसे 'मीट' करवाने बम्बई ले गये थे। किसी प्रिन्स का अल्सेशियन था। ममी बहुत बिगड़ी थीं। उन्हें तो दुनिया में सब कुछ वेस्ट करना ही लगता है। पर डैडी ने मेरी बात रख ली एण्ड इट पेड अस ऑलसो। रीयली पप्स बहुत स्वीट हैं।"

"इस बार ममी ने, पता है, क्या कहा है? छुट्टियों में किचन का काम सीखो। मुझे तो बाबा, किचन के नाम से ही एलर्जी है! मैं तो इस बार मोराविया पढ़ूँगी! हिन्दी वाली मिस ने हिन्दी-नॉवेल्स की एक लिस्ट पकड़ायी है। पता नहीं, हिन्दी के नॉवेल्स तो पढ़े ही नहीं जाते!" वह ज़ोर से कन्धे उचका देती है।

तभी बाहर का दरवाज़ा खुलता है और चुस्त-दुरुस्त शरीर और रोबदार चेहरा लिये एक व्यक्ति भीतर आता है। भीतर का दरवाज़ा खुलता है तब तक बाहर का दरवाज़ा बन्द हो चुका होता है, इसलिए बाहर के शोर और गरम हवा का लवलेश भी भीतर नहीं आ पाता।

सीढ़ियों के पास वाले कोने की छोटी-सी टेबल पर दीवाल से पीठ सटाये एक महिला बड़ी देर से बैठी है। ढलती उम्र के प्रभाव को भरसक मेक-अप से दबा रखा है। उसके सामने कॉफ़ी का प्याला रखा है और वह बेमतलब थोड़ी-थोड़ी देर के लिए सब टेबलों की ओर देख लेती है। आने वाले व्यक्ति को देखकर उसके ऊब-भरे चेहरे पर हल्की-सी चमक आ जाती है और वह उस व्यक्ति के अपनी ओर मुखातिब होने की प्रतीक्षा करती है। खाली जगह देखने के लिए वह व्यक्ति चारों ओर नज़र दौड़ा रहा है। महिला को देखते ही उसकी आँखों में परिचय का भाव उभरता है और महिला के हाथ हिलाते ही वह उधर ही बढ़ जाता है।

"हल्लोऽऽ! आज बहुत दिनों बाद दिखायी दीं मिसेज़ रावत!" फिर कुर्सी पर बैठने से पहले पूछता है, "आप यहाँ किसी के लिए वेट तो नहीं कर रही हैं?"

"नहीं जी, घर में बैठे-बैठे या पढ़ते-पढ़ते जब तबीयत ऊब जाती है तो यहाँ आ बैठती हूँ। दो कप कॉफ़ी के बहाने घण्टा-डेढ़ घण्टा मजे से कट जाता है। कोई जान-पहचान का फ़ुरसत में मिल जाये तो लम्बी ड्राइव पर ले जाती हूँ। आपने तो किसी को टाइम नहीं दे रखा है न ?"

"नो…नो…बाहर ऐसी भयंकर गरमी है कि बस। एकदम आग बरस रही है। सोचा, यहाँ बैठकर एक कोल्ड कॉफ़ी ही पी ली जाये।" बैठते हुए उसने कहा।

जवाब से कुछ आश्वस्त हो मिसेज रावत ने बैरे को कोल्ड कॉफ़ी का ऑर्डर दिया—"और बताइए, मिसेज आहूजा कब लौटने वाली हैं ? साल भर तो हो गया न उन्हें ?"

"गॉड नोज़।" वह कन्धे उचका देता है और फिर पाइप सुलगाने लगता है। एक कश खींचकर टुकड़ों-टुकड़ों में धुआँ उड़ाकर पूछता है, "छुट्टियों में इस बार आपने कहाँ जाने का प्रोग्राम बनाया है ?"

"जहाँ का भी मूड आ जाये चल देंगे। बस इतना तय है कि दिल्ली में नहीं रहेंगे। गरमियों में तो यहाँ रहना असम्भव है। अभी यहाँ से निकल कर गाड़ी में बैठेंगे तब तक शरीर झुलस जायेगा ! सड़कें तो जैसे भट्टी हो रही हैं।"

गाने का स्वर ड्रायर से उठकर फिर सारे हॉल में तैर गया…"ऑन सण्डे आइ एम हैप्पी…"

"ऑन सण्डे ! मेरा तो सण्डे ही सबसे बोर दिन होता है !"

तभी मशीन की स्वर-लहरियों के साये में फँसे हुए भिनभिनाते-से शोर को चीरता हुआ एक धमधम-सा कोलाहल सारे हाल में फैल जाता है। सबकी नज़रें दरवाजे की ओर उठ जाती हैं। विचित्र दृश्य है। बाहर और भीतर के दरवाजे एक साथ खुले हुए हैं और नन्हे-मुन्ने बच्चों के दो-दो, चार-चार के [illegible] करते भीतर घुस रहे हैं। शायद या एक दूसरा [illegible]

दे रहा है, जिस पर एक स्टेशन-वैगन खड़ी है, आस-पास कुछ दर्शक खड़े हैं और उसमें से बच्चे उछल-उछलकर भीतर दाखिल हो रहे हैं—'बॉबी, इधर आ जा !'—'निट्ठू, मेरा डिब्बा लेते आना···!' बच्चों के इस शोर के साथ-साथ बाहर की गरम हवा, बाहर का शोर भी भीतर आ रहा है। बच्चे टेबलों से टकराते, एक-दूसरे को धकेलते हुए सीढ़ियों पर जाते हैं। लकड़ी की सीढ़ियाँ कार्पेट बिछा होने के बावजूद धम्-धम् करके बज उठी हैं।

हॉल की संयत शिष्टता एक झटके के साथ बिखर जाती है। लड़की गाना बन्द करके मुग्ध भाव से बच्चों को देखने लगती है। सबकी बातों पर विराम-चिह्न लग जाता है और चेहरों पर एक विस्मयपूर्ण कौतुक फैल जाता है।

कुछ बच्चे बालकनी की रेलिंग पर झूलते हुए से हॉल में गुब्बारे उछाल रहे हैं। कुछ गुब्बारे कार्पेट पर आ गिरे हैं, कुछ कन्धों और सिरों से टकराते हुए टेबलों पर लुढ़क रहे हैं तो कुछ बच्चों की किलकारियों के साथ-साथ हवा में तैर रहे हैं···नीले, पीले, हरे, गुलाबी···

कुछ बच्चे ऊपर उछल-उछलकर कोई नर्सरी राइम गाने लगते हैं तो लकड़ी का फ़र्श धम्-धम् बज उठता है।

हॉल में चलती फ़िल्म जैसे अचानक टूट गयी है।

छत बनाने वाले

दरवाज़े के बायी ओर की दीवार पर लगी नेमप्लेट को दो बार अच्छी तरह पढ़ने के बाद बड़े झिझकते-से हाथों से शरद ने कुण्डी खटखटायी।

"कौऽन ?" एक दहाड़ता-सा स्वर दरवाज़े से टकराकर बिखर गया। शरद की समझ में नहीं आया कि वह क्या कहे। एक बार तो मन हुआ कि चुपचाप चल दे और होटल में टिक जाए पर रिक्शा जा चुका था। तभी भीतर से खड़ाऊँ की खटपट-खटपट करीब आती लगी और भड़ाक से दरवाज़ा खुला।

धोती को तहमद की तरह लपेटे, बनियान पहने, ललाट पर लम्बा-सा तिलक लगाये जो व्यक्ति सामने दिखाई दिया, वही ठाकुर ताऊजी हैं, यह समझते शरद को देर नहीं लगी। उनके चेहरे पर फैला प्रश्नवाचक भाव और अधिक गहरा होता, उसके पहले ही शरद ने बड़ी नम्रता से हाथ जोड़ कर कहा, "नमस्ते ताऊजी।"

क्षणांक के लिए घनी भौंहों के नीचे आँखों के कटोरे कुछ और सिकुड़े, ललाट की तीन सलवटें कुछ और अधिक उभर आईं। सामने रखे सामान की ओर उड़ती-सी नज़र डाल कर उन्होंने फिर शरद के चेहरे की ओर देखा और अनुमान लगाते-से स्वर में बोले, "कौऽन, तुम पन्ना हो क्या ?"

बहुत दिनों बाद अपने बचपन का नाम सुनकर शरद को हँसी आ गई। मुस्कराता-सा बोला, "जी हाँ।" और इसके साथ ही सामने वाले व्यक्ति का तिलक फैल गया, चेहरे के सारे तनाव ढीले पड़ गये और शरद ने अपनी पीठ पर एक स्नेहिल स्पर्श महसूस किया, "कमाल है भाई।

कोई खबर नहीं, सूचना नहीं। मैं ताँगा भेज देता लेने के लिए। आओ…
आओ…"

शरद ने अपना सूटकेस और बैग उठाते हुए कहा, "मैंने सोचा, घर तो ढूंढ़ ही लूंगा, सवेरे-सवेरे वेकार ही तकलीफ़ होगी।"

"वाह, इसमें तकलीफ़ की क्या बात है भला।" फिर शरद को सामान उठाये देखकर कुछ परेशान से बोले, "अरे, अरे, सामान यहीं रख दो, अभी तुम्हारा कमरा ठीक हो जाएगा, तो वहीं पहुँच जाएगा।" और फिर ज़रा व्यस्त भाव से भीतर की ओर झाँक कर बोले, "सुनती हो मोटू की माँ, देखो तो कौन आया है ?"

मोटू की माँ ने सुना या नहीं, इसकी तनिक भी चिन्ता किये बिना शरद की पीठ पर हाथ रखकर वे उसे भीतर ले गये। शरद को पिताजी की बात याद आई, "आदर्श परिवार किसी को देखना हो तो ठाकुर साहब का देखो। क्या डिसिप्लिन है, क्या बच्चे हैं।" और शरद ने एक उड़ती-सी नज़र कमरे पर डाली।

"बैठो," और ताऊजी खिड़कियाँ खोलने लगे। "रामेश्वर मज़े में है, तुम्हारी अम्मा, बाल-बच्चे ?" शरद "जी, जी" करता रहा। यह शायद घर की बैठक है, शरद ने अनुमान लगाया। दो तख्त जोड़कर मोटा-सा गद्दा बिछा रखा था, जिस पर हल्की-सी मैली हो आई चद्दर बिछी थी। तीन तरफ़ गोल तकिए पड़े थे। दीवारों पर सुनहरी फ्रेम में मढ़ी कुछ तसवीरें लगी थीं—गोपियों के साथ होली खेलते हुए कृष्ण, शिव-पार्वती। एक कैलेंडर लटका था जिस पर कल की तारीख लगी हुई थी। दीवारों पर दो तरफ़ सिन्दूर से स्वस्तिक चिह्न बने थे। सामने की दीवार के बीचों-बीच दीवाल-घड़ी टंगी हुई थी। तख्त से कुछ हट कर दोनों ओर की दीवारों के सामने दो-दो टीन की कुर्सियाँ रखी थीं, जिन पर रंग-बिरंगी फूल-कढ़ी सफ़ेद गद्दियाँ बिछी थीं।

"तुम आए बड़ी खुशी हुई। पर आने से पहले तुम्हें खबर करनी चाहिए थी।" शरद को कुर्सी पर बिठा कर स्वयं तख्त पर बैठते हुए

उन्होंने कहा, "वैसे कोई एक महीना पहले रामेश्वर ने लिखा था कि पन्ना एक सप्ताह के लिए यहाँ आकर रहना चाहता है, सो यदि घर में दिक्कत हो तो किसी होटल-वोटल में इन्तज़ाम करवा दीजिये।"

"जी वो······" शरद कुछ कहने ही जा रहा था कि बीच में ही वे दहाड़ उठे, "जी क्या ? घर होते हुए तुम होटल में ठहरोगे ? होटल में कोई भले आदमियों के ठहरने की जगह होती है ? रामेश्वर बड़ा शहरी हो गया है, अपनापन अब उसमें रहा ही नहीं। वरना जब यहाँ था तो घरों के बीच में ज़रूर दीवार थी, पर हम लोगों के मन एक थे। तुम्हें तो क्या याद होगी उन दिनों की ? मुश्किल से नौ बरस के रहे होओगे।" और जैसे उनकी आँखों के आगे वे ही दिन उभर आए। "छोटू-मोटू, पन्ना-मोती, दशरथ के चारों बेटों की तरह रहते थे।" उनके चेहरे पर ममतामय उल्लास चमकने लगा। शरद, मोटू-छोटू के बारे में पूछने ही जा रहा था कि तभी ठोडी तक घूँघट निकाले एक महिला दरवाज़े पर आकर ठिठक गई; इस दुविधा में कि भीतर घुसे या नहीं।

"आओ···आओ···देखो, पहचानती हो इन्हें ?"

शरद ने हाथ जोड़कर उठते हुए बड़ी नम्रता से कहा, "नमस्ते ताई-जी।"

पर इस सम्बोधन से भी वे शायद पहचान नहीं पाईं, सो ज्यों की त्यों खड़ी रहीं।

"अरे पन्ना है, पन्ना। नहीं पहचान सकी न ? अपने रामेश्वर का बड़ा बेटा।" और ताऊजी 'हो हो' करके हँस पड़े।

"ओह, पन्ना है। खबर नहीं दी भैया ? कोई लिवाने चला जाता।" और भीतर आकर ताईजी ने शरद की पीठ पर हाथ फेरा। ताऊजी के मुकाबले में ताईजी की आवाज़ बड़ी धीमी और मुलायम लगी।

"नहीं, कोई जाता तो तकलीफ होती। ये शहरी लोग हैं, आराम-तलब। इन्हें हर बात में तकलीफ दिखाई देती है।" स्नेह ने व्यंग के पैने किनारों को इतना मुलायम बना दिया था कि बात मन में कहीं चुभी

नहीं।

"रामेश्वर लाला अच्छे हैं ? अम्मा, मोती, हीरा······"

"अब तो आप घूंघट खोल दीजिये ताईजी !" शरद को इस घूंघट से बड़ी उलझन हो रही थी।

"भई, मेरठ छोटा-सा शहर है, यहां बड़े शहरों जैसी बेशर्मी तो चलती नहीं। फिर हमारे घर की तो······"

"पर मैं तो मोटू-छोटू की तरह हूँ ताऊजी।"

"नहीं·· नहीं···" वे नकारात्मक भाव से सिर हिलाते हुए बोले, "अपना जाया बेटा भी जब जवान हो जाता है तो···नहीं, नहीं, यह सब मुझे पसन्द ही नहीं।" शरद को बड़ा अजीब-सा लगा ! फिर एकाएक प्रसंग बदल कर वे ताईजी से बोले, "अब तुम कुछ दूध-लस्सी का सिलसिला तो बिठाओ। और हाँ सुनो, छोटी-बड़ी बहू को कहो कि पन्ना के लिए ऊपर का कमरा तैयार कर दें।" शरद ने आवाज़ की बुलन्दी और रोब को भीतर तक महसूस किया और उसे लगा कि ताऊजी केवल हुक्म ही दे सकते हैं। कभी इन्हें किसी के सामने याचना करनी पड़े तो ? उस समय कैसा रहता होगा इनका स्वर।

ताईजी लौट गई। "मोटू-छोटू कहाँ हैं ?" शतद को खुद आश्चर्य हुआ कि जिस बात को वह सबसे पहले पूछना चाहता था उसे इतनी देर तक कैसे टालता रहा। इस घर में आने का सबसे बड़ा आकर्षण तो उसके हम-उम्र मोटू-छोटू ही थे। बचपन की स्मृतियों को सजीव करने में उसे सबसे ज्यादा मदद तो उन्हीं से मिलेगी।

"वे दोनों मन्दिर गये हैं ?"

"मन्दिर ?"

"हाँ यहाँ पास ही है।" शरद के स्वर में लिपटा आश्चर्य का भाव वे शायद पकड़ नहीं पाए। उसी सहज भाव से बोले, "शाम को आरती के समय चाहो तो तुम भी चले जाना। बस आते ही होंगे, इतने तुम भी नहा-धोकर निपट लो।

शरद का मन हो रहा था किसी तरह एक प्याला चाय मिल जाए तो दिले-डुले। पर दूध-लस्सी की बात सुनने के बाद उससे कुछ भी कहा नहीं गया।

वह उठा और बरामदे में रखे अपने बैग में से तौलिया, बुश आदि निकाला और सूटकेस में से एक जोड़ी कपड़े। "वह नल है वहाँ दातुन कर लेना; उधर ही पखाना और गुसलखाना है।" इशारे से बताकर ताऊजी फिर बैठक में चले गये। शरद कन्धे पर तौलिया लटकाये, मुँह में पेस्ट लगा ब्रुश दबाये, दो मिनट यों ही निरुद्देश्य सा देखता रहा। आँगन के बीचों-बीच पक्का चबूतरा बना हुआ है, जिसके ऊपर बने सीमेंट के गमले में तुलसी खूब फल रही है। गमले के चौड़े से किनारे पर एक बुझा हुआ दीपक रखा है। आँगन के चारों ओर करीब पाँच-छ फुट चौड़ा बरामदा सा बना हुआ है और फिर कमरे।

तभी पायल की भनक से उसका ध्यान टूटा। गुलाबी-पीली साड़ियों में लिपटी, अपने को भरसक समेटती सी, लम्बा-लम्बा घूँघट काढ़े दो महिलाएँ हाथ में झाड़ू, दरी, सुराही आदि लिये बैठक के ठीक सामने की ओर बने कोने में घुस गईं। 'ये छोटू-मोटू की बहुएँ होंगी' शरद ने अनुमान लगाया और एकाएक उसके सामने कुन्तल का चेहरा घूम गया। बिना बाँहों का ब्लाउज पहने और ऊँचा जूड़ा बाँधे। जाने क्यों उसे भीतर ही भीतर हँसी आ गयी।

वह गुसलखाने में नहा रहा था कि उसे बाहर आँगन में तीन-चार लोगों के पदचाप सुनाई दिये और फिर ताऊजी का स्वर, "अरे मोटू-छोटू, पन्ना आए हैं लखनऊ से। अभी नहा रहे हैं।" स्वर में उल्लास छलका पड़ रहा था।

"अरे हमारा बेटा चरणामृत लाया है···लाओ, लाओ···इत्ता बड़ा हो।" ताऊजी शायद किसी बच्चे से कह रहे थे।

एकाएक शरद के मन में मोटू-छोटू को देखने का कौतूहल जाग उठा। उसने जल्दी-जल्दी बदन पोंछकर कपड़े पहने और निकला तो—'अरे पन्ना

भय्या' और लपक कर दोनों ने शरद के पैर छुए। पास खड़े ताऊजी मुग्ध भावसे यह भरत-मिलाप का दृश्य देखते रहे पर शरद बेहद संकुचित हो उठा। उसे ध्यान आया, उसने तो ताऊजी, ताईजी तक के पैर नहीं छुए। "ये लल्ला हैं, मोटू के बेटे और ये मुन्ना हैं छोटू के बेटे। पैर छुओ तो बेटा, ताऊजी के।" और ताऊजी ने हल्के-से बच्चों को शरद की ओर धकेल-सा दिया।"

कुछ भी शरद की समझ में नहीं आया।

मोटू-छोटू डील-डौल में शायद उससे इक्कीस ही थे। चौड़े ललाट पर चन्दन का टीका; दोनों के हाथ की कलाइयों में कलावा बँधा हुआ था। छोटू के गले में काली डोरी में बँधा तावीज़ जैसा कुछ लटक रहा था। शरद उन्हें कुछ इस भाव से देखता रहा, मानो पहचानने की कोशिश कर रहा हो।"

"आपने आने की कोई खबर नहीं दी भय्या, वरना हम ताँगा लेकर स्टेशन आ जाते।"

तीसरी बार भी यही बात सुनकर शरद को लगने लगा जैसे खबर न देकर सचमुच ही उसने कोई अपराध कर दिया हो।

दूध और लस्सी के गिलास क्रोशिए से बने जालीदार मेज़पोश से ढकी एक छोटी-सी टेबिल के चारों ओर रखे थे और बीच में एक प्लेट-नुमा थाली में मठरी और बेसन के लड्डू।

"तुम दूध लोगे या लस्सी? हमारे यहाँ इस मामले में छोटे से लेकर बड़े तक सब मन के मालिक हैं। किसी को दूध चाहिए तो किसी को दूध की लस्सी; कोई दही की लस्सी के सिवाय कुछ छूता ही नहीं। सबकी फ़रमाइश पूरी करती हैं तुम्हारी ताईजी।" अपने घर की सारी व्यवस्था को लेकर ताऊजी कुछ अतिरिक्त उत्साह में आये हुए थे।

'मन के मालिक' होने का सहारा पाकर शरद ने झिझकते-से स्वर में कहा, "यदि दिक़्क़त न हो तो मैं चाय लेना···"

"ऐसी गर्मी में चाय?" ताऊजी ने बीच में ही बात काट दी।

"दिक़्क़त की तो कोई बात नहीं, पर यह भी कोई चाय का मौसम

अपना तो काम भी यही है।"

"पर आमदनी का भी तो कोई ज़रिया होगा या नहीं ?" ताऊजी के चेहरे पर असन्तोष का भाव बढ़ता ही जा रहा था। इतनी देर तक शरद अपने लेखक को भीतर ही भीतर दबाए स्वयं बोल रहा था, अब जैसे एकाएक उसका लेखक उभर आया। सारा संकोच और दुविधा एक किनारे रखकर वह कुछ ढिठाई के से स्वर में बोला, "बहुत पैसा कमाने की या जोड़ने की अपनी कोई इच्छा नहीं है, गुज़ारे लायक इसी से हो जाता है।" और उसने पैर थोड़े सामने को फैलाकर पीठ कुर्सी पर टिका दी। मानो पूरी तरह मोर्चे पर जम गया हो कि लो बोलो, क्या कर लोगे मेरा!

पर शायद ताऊजी पर शरद के इस लहजे का कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा। तैश में बोले, "नो-नो···, यह भी कोई बात हुई भला ? रामेश्वर ने हाड़ पेल-पेलकर तुम्हें एम० ए० करवाया, अब उनके बुढ़ापे में तुम अपना शौक लेकर बैठ जाओ।" फिर स्वर को ज़रा मुलायम बनाकर बोले, "देखो बेटा, बुरा मत मानना पर तुम्हारे सोचने का यह तरीक़ा ही ग़लत है।"

"हाँ भय्या देखिये न, आदमी होकर बस अपना पेट भरने का जुगाड़ कर लिया···यह तो कोई बात नहीं हुई न ?" और समर्थन पाने के लिए मोटू ने ताऊजी की ओर देखा। समर्थन में छोटू का सिर धीरे-धीरे हिल रहा था। खिन्न स्वर में ताऊजी ने कहा, "कुछ समझ में ही नहीं आता ···लगता है रामेश्वर ने जैसे अपने घर का सारा सिलसिला ही बिगाड़ लिया। अब यहाँ होते तो···"

कोई और समय होता तो पता नहीं शरद क्या कर बैठता। कम से कम अपना सामान लेकर चल तो पड़ता ही। पर इस समय वह केवल मन्द-मन्द मुस्कराता रहा। मुग्ध भाव से सुनने और दाद देने का पार्ट अदा करते हुए मोटू-छोटू और वक्ता ताऊजी···उसके मन में एक विस्मयपूर्ण कौतुक के अतिरिक्त और कोई भाव नहीं आ रहा था।

तभी घड़ी ने टन-टन करके आठ बजाये। घन्टों की आवाज़ से ही

ताऊजी कुछ याद करते से बोले, "ग्रो हो ऽऽ—मैं तो भूल ही गया। चौधरी साहब के यहाँ आज साढ़े आठ बजे लगन चढ़ने वाला है। मोटू तुम जल्दी से तैयार होकर चले जाग्रो। दो रुपये दे आना···ग्रौर देखो, लिखवा जरूर देना।"

मोटू चला गया तो ताऊजी ने जरा-सा तिरछे खड़े होकर तहमद खोली ग्रौर कायदे से धोती पहन ली ग्रौर बाहर की ग्रोर मुँह करके बोले, "ये बर्तन ले जाना यहाँ से।" फिर छोटू की ग्रोर देखकर बोले, "लिखने-लिखाने का शौक हमारे इन छोटू साहब को भी चर्राया था एक जमाने में। ग्ररे, ये जब पेट में थे तो तुम्हारी ताईजी तुम्हें बहुत खिलाया करती थी, सो तुम्हारी ही छाया पड़ गयी होगी।" ग्रौर फिर ग्रपनी ही बात पर हो-हो करके हँस पड़े। "सो भय्या, हमने तो शुरू में ही ठीक कर दिया। क्यों छोटू याद है न ?"

छोटू कुछ ऐसे झेंपा मानो सबके सामने उसकी पोल खोल दी हो। धरती में नजर गड़ाए धीरे से बोला, "वह तो बचपने की बातें थी।"

हाँ ऽऽ, ग्रब तो बचपने की बातें लगती ही हैं। पर उस समय···"

"पिताजी, ऊपर का कमरा ठीक कर दिया।" एक तेरह-चौदह साल की लड़की साड़ी पहने, गठरी बनी सी दरवाजे पर ग्राकर खड़ी हो गई। ताऊजी ने उसे बिना भीतर बुलाए ही कहा, "पन्ना, ये बिट्टी हैं, तुम्हारी सबसे छोटी बहिन। पिछले साल आठवाँ दर्जा पास किया था, ग्रब घर का कामकाज सीख रही हैं। ग्रगले साल तक या हो सका तो ग्राती सर्दियों में ब्याह कर देंगे।"

बिट्टी इस प्रसंग पर सुर्ख होती हुई भाग गयी। "छोटू, पन्ना को कमरे में पहुँचा दो, ग्रौर देख लो इन्हें किसी चीज की जरूरत तो नहीं है।" फिर उससे बोले, "देखो बेटा, यहाँ सकोच करने की जरूरत नहीं है, हाँ, ऽ! यह तुम्हारा ग्रपना ही घर है। ग्रौर देखो, हमारी किसी बात का बुरा मत मानना। क्या करें, तुम लोगों को पराया नहीं समझ पाते सो जो कुछ बुरा लगता है, कह देते हैं।"

"नहीं,...नहीं..." शरद ने उठते हुए कहा।

सीढ़ियाँ चढ़ते हुए उसने सुना, "छोटू, लौटकर तुम हिसाब तैयार कर लेना।" आदेश देते हुए ताऊजी का स्वर मिलिट्री के अफ़सर जैसा लगता है, कमाण्ड करता हुआ। ऊपर पहुँच कर शरद ने देखा, बड़ी-सी खुली छत है, जिसके एक ओर एक कमरा बना हुआ है और दूसरी ओर टीन के शेड के नीचे सीमेण्ट की बोरियाँ चिनकर रखी हुई हैं।

"सीमेण्ट का भी कोई कारबार है क्या? शरद ने पूछा तो छोटू झेंपता सा बोला, "नहीं, नहीं।" ऊपर की मंज़िल बनवानी है, इसी सप्ताह काम शुरू करवाना है। सीमेण्ट की तो ऐसी दिक्कत है कि बस। बड़ी मुश्किल से भाग-दौड़ करके इकट्ठी की है।"

शरद उसे ग़ौर से देख रहा था। कैसी गम्भीरता और ज़िम्मेदारी से बात करता है। उसकी पीठ पर थप् मारकर हँसते हुए बोला, "यार छोटू, तुम तो अभी से अच्छे-खासे बुजुर्ग बन गए।"

छोटू झेंप गया।

"और यार, कुछ अपने हालचाल सुनाओ। तुम तो लड़कियों की तरह झेंप रहे हो।"

"नहीं तो। बस सब ठीक चल रहा है।" फिर सीधे शरद की ओर देखकर बोला, "शाम को दुकान की तरफ़ आइये न!"

"किसकी दुकान है?"

"प्रोविज़न और जनरल स्टोर है। यहाँ का तो सबसे बड़ा स्टोर है।" शरद को लगा जैसे वह अपना स्टोर दिखाने के लिए बहुत उत्सुक है। शायद चाहता है कि शरद देख ले कि......

"अच्छा चलूँ? आप देख लीजिये सब ठीक तो है न?"

"सब ठीक है यार, तुम बैठो न थोड़ी देर। तुमसे तो बहुत-सी बातें करनी हैं।" लापरवाही से शरद बोला।

"ज़रा हिसाब ठीक करना था। आप तो अभी यहाँ हैं ही, खूब बातें करेंगे।" छोटू उठ खड़ा हुआ। शरद लौटते हुए छोटू को कुछ इस भाव से

देखता रहा मानो उसे पहचानने की कोशिश कर रहा हो। फिर उसने अपना कमरा देखा। एक खाट पर बिस्तर लगा था, जिस पर साफ कढ़ी हुई चादर बिछी हुई थी। एक कोने में छोटी-सी टेबिल और टीन की कुर्सी। सच, इस तरह की कुर्सियों को तो वह भूल ही चुका था। खिड़की पर सुराही रखी थी, पास में गिलास। नीचे दरी बिछी थी। दीवार के सहारे उसका सामान रखा था। ओह, उसे ख्याल ही नहीं रहा, इसे कौन उठाकर लाया होगा? मोटू-छोटू की बहुएँ। अपनी लापरवाही पर उसे क्षोभ हुआ।

उठकर उसने दरवाज़े पर लगी चिक को गिरा दिया। कमरे में हल्का सा अंधेरा हो गया। जब पूरी तरह आश्वस्त हो गया कि वह अकेला है तो बैग में से निकाल कर उसने सिगरेट सुलगायी। चाय न मिली तो यही सही और इत्मीनान से धुआँ छोड़ते हुए वह मन ही मन मुस्कराया।

कभी कुन्तल यहाँ आए तो? वह तो ताऊजी को देखकर सीधे ही कह बैठे, "बुड्ढा क्रैंक है।" उसके होंठ और फैल गये! आज रात को कुन्तल को पत्र मिलेगा।

शाम को निकला शरद पर लौटा तो रात के नौ बजे थे। सारे समय वह उन स्थानों पर घूमता रहा जहाँ उसने बचपन के दिन बिताये थे, और जिनकी उजली-धुँधली अनेक स्मृतियाँ उसके मन में तिरती थीं। छोटे रास्ते से जाने पर बीच में पड़ने वाला वह नाला, उसके पास लगे इमली और जामुन के पेड़ आज भी ज्यों के त्यों थे। मोटू-छोटू और वह जामुन तोड़ने में इतने मगन हो जाते थे कि स्कूल में देर हो जाती थी और गणित के काने मास्टर जी उन तीनों को सज़ा देकर बैंच पर खड़ा कर दिया करते थे। जब वे चिढ़कर बोर्ड पर सवाल समझाते होते तो बैंच पर खड़ा-खड़ा छोटू जीभ निकाल कर और मुक्का दिखा-दिखाकर उन्हें चिढ़ाया करता था। उस समय वैसे भीतर से उमड़ती हुई हँसी को ज़बरन होंठों में

ही दवाना पड़ता था।

इम्तिहान में हमेशा तीनों एक दूसरे की नकल किया करते थे। पतंग उड़ाना, सोडे की बोतलों को पीस-पीस कर माँजा सूतना, घण्टों गिल्ली-डंडे और गोलियाँ खेलना, छिपकर ताऊजी की बीड़ी पीना, मन्दिर में से पैसे उठाकर ले आना। हर प्रसंग की अनेक-अनेक घटनाएँ उसकी स्मृति में लिपटी थीं। छोटू शुरू से ही ज्यादा शरारती था। दिन में दो-तीन बार वह ताऊजी से ज़रूर पिटता था। पिताजी बचाने तो ताऊजी उन्हीं पर बरस पड़ते......"छोड़ दे रामेश्वर, इस समय ढील दी तो आवारा हो जाएगा यह।"

बचपन की उन्हीं सब बातों को, उन्हीं स्थानों के बीच, एक बार फिर से सजीव करने के उद्देश्य से ही वह यहाँ आया था। पर जाने क्यों सारे दिन उसे यही लगता रहा कि बचपन की स्मृतियों के नाम पर उसने जो कुछ भी अपने मन में अंकित कर रखा है, उसमें से कुछ भी नहीं मिलेगा। शायद वह सोचता बहुत है और सोचने की इस प्रक्रिया में बहुत-सी काल्पनिक चीज़ें भी जोड़ता चलता है। पर जब वे सारे के सारे स्थान और चिह्न हल्के से परिवर्तन के साथ ज्यों के त्यों मिल गये तो उसे बड़ा सुखद आश्चर्य हुआ। यहाँ तक कि हरखू मोदी की वह दुकान भी मिली जहाँ से वे तीनों उधार लेकर चने-मूँगफली खाया करते थे और जब यह बात घर पहुँचती थी तो पिटते थे। बूढ़ा हरखू एक आँख पर हरे फलैनल की थिगली सी लटकाए उससे मिलकर बड़ा प्रसन्न हुआ! उसने आज भी चने खरीदे तो हरखू ने पैसे नहीं लिये।

"तुम्हारा बेटा कहाँ गया?"

"भय्या, लल्लन ने तो शहर में नौकरी कर ली। मुझको भी बुलाता है पर अपना तो जब तक शरीर चलता है, अपनी दुकान भली।"

रात को वह लौटा तो घर में सन्नाटा छाया हुआ था।

पहले दिन उसके खाने-पीने और सोने की अनियमितता की अभिभावात्मक ढंग से आलोचना करने के बाद ताऊजी ने 'चार दिन को आया है' कह कर उसे स्वीकार भी कर लिया था। पर बाहर जाने से पहले वे एक बार अवश्य ऊपर आते थे। 'क्यों बेटा, किसी चीज की जरूरत तो नहीं है न ?' से शुरू होकर बात काफी आगे तक चलती थी। उस समय ताऊजी सफेद ब्रिचिस और बन्द गले का सफेद कोट पहने रहते, जिसमें मीने के काम के सोने के बटन लगे होते। सिर पर कलफदार साफा। शरद के मन में ताऊजी का यही रूप अंकित था, केवल चेहरा कुछ अधिक चिकना और शरीर कुछ अधिक कसा हुआ। उनके हाथ में करीब दो फुट लम्बा, गोल लकड़ी का डण्डा रहता, जिसके एक सिरे पर जीभ के आकार का कटा हुआ चमड़े का एक टुकड़ा लटकता रहता। वह डण्डा हिला-हिलाकर बात करते तो बहुत रोकने पर भी शरद का मन बात से ज्यादा चमड़े की लप-लपाती उस जीभ पर चला जाता।

बात हमेशा उसके परिवार से शुरू होती और फिर अनायास ही ताऊजी के अपने परिवार पर आ जाती।

"तुम लोग तो लड़के हो, पर यह बताओ उस हीरा को क्यों कुँआरा बिठा रखा है ? छब्बीस की तो होगी ? और क्या लल्ली से दो बरस बड़ी है। जानते हो, लल्ली के तीन बच्चे हैं।" और फिर वे शरद की ओर कुछ इस भाव से देखते मानो उसके तीन बच्चे होना बहुत बड़ी उपलब्धि हो। शरद मुस्कराता सा कहता, "वह अब डॉक्टर हो गयी, बड़ी और समझदार है। उसका अपना व्यक्तित्व है…"

"अब तो हो ही गयी बड़ी, पर पेट में से तो डॉक्टर होकर नहीं निकली थी।" ताऊजी भभकते, फिर बड़े खेद और असन्तोष से सिर हिलाते हुए कहते, "हमारी तो कुछ समझ में ही नहीं आता कि रामेश्वर ने यह सारे घर का सिलसिला क्यों बिगाड़ रखा है। लड़कियों को कहीं यों छूट दी जाती है ? लगता है रामेश्वर ने बच्चों की तरफ से आँख ही मूँद ली है। कच्ची उमर में बच्चों का भविष्य उनके हाथ में छोड़ देने से तो ऐसा

ही होता है।" फिर एकाएक स्वर को गिराकर बोले, "तुम विश्वास नहीं करोगे, छोटू ने इस घर में कम तुफैल नहीं मचाये थे। मैट्रिक में फर्स्ट पोजीशन क्या आ गई, अपने को लाटसाहब ही समझने लगा था। आगे पढ़ने के लिए बाहर जाएँगे, घर में नहीं रहेंगे, दुकान पर नहीं बैठेंगे।" फिर एकाएक वे कुछ आत्मीय बातें करने के मूड में आ गये। जरा सामने झुककर, शरद को विश्वास में लेते से बोले, "प्रेम-व्रेम के चक्कर में भी पड़ गए थे। वो बावेला मचाया घर में कि बस। कोई कायस्थों की छोकरी थी, आवारा सी।" एकाएक शरद की जिज्ञासा जागी, पर पता नहीं उन्होंने शरद के सामने वह सब कहना उचित नहीं समझा या कि वह प्रसंग दोहराना ही उन्हें अरुचिकर लगा सो उन्होंने बात को वहीं तोड़कर उसका सार निचोड़ कर सुना दिया, "सो भैया, घर है तो ऊँच-नीच तो लगी ही रहती है। जमाने की हवा है तो बच्चे उससे अछूते थोड़े ही रहते हैं, पर घर का जमा-जमाया एक सिलसिला हो तो सब ठीक हो जाता है। बच्चे जब भटकने लगें उस समय भी यदि उन्हें ठीक से गाइड न कर सकें तो लानत है हमारे माँ-बाप होने पर।" और एकाएक ताऊजी ने डण्डा मेज पर जमाया तो चमड़े की वह जीभ एक बार फिर हवा में लपलपा उठी। शरद को लगा कि प्रतिवाद करने के लिए यदि उसने चूँ भी की तो यह जीभ उसे निगल ही लेगी।

पुराने एसोसिएशन्स ताज़ा होते ही शरद को जैसे लिखने का मूड आ गया। देखे हुए स्थानों का एक-एक डिटेल वह अपनी डायरी में नोट करने लगा। सिनेमा के ट्रेलर की भाँति नीचे से मोटू-छोटू और ताईजी की बातों के प्रसंगहीन टुकड़े उसके कानों में पड़ते रहते। 'अम्मा, महादेव जी के मन्दिर में एक बड़े चमत्कारी महात्मा आये हैं, उन्हीं से लेकर तावीज़ बाँधो, वैद्य-हकीमों से यह गठिया नहीं जाएगी'...'मोटू भैया, हाथरस वालों को मैंने जवाब दे दिया कि बिना जायचा जुड़ाए तो हम सम्बन्ध नहीं कर सकेंगे'...'शंकरलाल के लड़के ने किसी बंगालिन से शादी कर ली...... माँ-बाप बिचारे झक मार रहे हैं'...'हरदेई चाची के मरने पर बेटों ने कह

दिया हम तेरहवीं नहीं करेंगे।' 'सीमेंट के बीस थैलों का इन्तजाम और हो गया है, अब काम शुरू करवा देना चाहिए…मजदूरों के दिमाग भी आजकल आसमान पर चढ़ रहे हैं…"

पर जैसे ही ताऊजी आते, सारे घर में उनका स्वर गूँजने लगता और बाकी स्वर जैसे उसी में डूब कर रह जाते…"मैं कहता हूँ इन लल्ला, मुन्ना को तो कुछ सिखाया करो, औंधे लेट कर पढ़ रहे हैं, यह कोई ढंग है पढ़ने का? तुम लोगों को हमने होशियार कर दिया, अब इन्हें तो तुम देखो भालो!" दुनिया भर के आदेश, दुनिया भर की हिदायतें।

"आज बाहर नहीं गए?" ऊपर चढ़ते हुए ताऊजी ने पूछा।

"बस यों ही कुछ लिखने बैठ गया।" पेन बन्द करके कुर्सी से जरा सा उठते हुए शरद ने दरवाजे पर खड़े ताऊजी का स्वागत किया।

"शाम को सब लोगों से मिल-मिला आता हूँ, इसी बहाने थोड़ा घूमना भी हो जाता है।"

शरद चुप रहा और वे बाहर छत की ओर देखने लगे। धूप छत पर से कभी की सिमट चुकी थी, इस समय हवा में थोड़ी ठण्डक भी आ गयी थी। "हवा यहाँ खूब चलती है।" फिर एक मिनट ठहर कर पूछा, "रामेश्वर मकान-वकान बनवा रहा है या नहीं?" शरद को लगा अब वे अपने मकान की बात करेंगे।

"अपने तो भाई, सिर छिपाने और पैर टिकाने के लिए यह मकान बनवा लिया।" होठ दबा लेने के कारण शरद की हँसी मुस्कराहट बन कर रह गई।

"कुछ भी हो, अपने मकान की होड़ नहीं, क्यों?"

समर्थन के अतिरिक्त शरद के पास कोई चारा नहीं था।

"दो कमरे छोटू के लिए, दो मोटू के लिए। बिलकुल अलग। अब न किसी का लेना, न देना। साथ रहकर भी हमारे यहाँ सब स्वतन्त्र हैं। मैंने नियम बना दिया है कि रात नौ बजे के बाद कितना ही जरूरी काम हो, बेटे और बहुओं को उनके कमरों से नहीं बुलाया जाएगा। फिर काम भी

ऐसा बाँट रखा है कि झगड़े की कोई बात नहीं।" फिर गर्दन ज़रा आगे की ओर झुका कर पूछा, "तुम्हें आये तीन दिन हो गये, कभी देखा तुमने बहुओं को लड़ते हुए? सुनी उनकी तू-तू, मैं-मैं?"

शरद को पहली बार ख़याल आया कि उसे तो आज तक यह भी नहीं मालूम पड़ा कि मोटू की बहू कौन सी है और छोटू की कौन सी। उसके कमरे की खिड़की से नीचे के आँगन का जो थोड़ा-सा भाग दिखायी देता है, वहीं से उसे कभी-कभी रंगीन साड़ियों की झलक मिल जाती है, न भी मिलती है तो दूसरे दिन आँख खुलते ही सामने तार पर फैली हुई साड़ियों से वह अनुमान लगा लेता है कि कल ये ही साड़ियाँ उनके शरीरों पर रही होंगी।

"सो भैया, हमने तो शुरू से ही ऐसा सिलसिला बिठा दिया कि झगड़े-टण्टे की कोई गुंजाइश ही नहीं।" फिर सामने रखी सीमेण्ट की बोरियों की ओर देख कर बोले, "भाग-दौड़ करके सीमेण्ट इकट्ठी की, कि अपने रहते-रहते ऊपर की मंज़िल भी बनवा ही दूँ। कौन जाने आगे क्या हो? यों भी अब छोटू-मोटू के बच्चे बड़े हो रहे हैं। मैंने तो इसी इरादे से ये छतें छोड़ दी थीं, बच्चे जब तक छोटे रहें खेल-कूद लें, बड़े होने लगें तो सिर पर छतें डलवा दो, कमरे बन गये।" और अपनी ही दूरदर्शिता पर वे मन्द-मन्द मुस्कराते रहे। फिर एकाएक उठते हुए बोले, "कौन जाने इनके बड़े होने तक हम ज़िन्दा भी रहेंगे, सिलसिला बिठा ही दूँ।"

आँख खुलते ही शरद ने पहली बात सोची कि आज वह चल देगा। दो बार ज़ोर की अँगड़ाई लेकर वह छत पर निकला तो देखा, सारी छत पर धूप फैली हुई है। सामने सीमेण्ट की बोरियों के चारों ओर ईंटों के ढेर लगा दिये गये हैं। ज़रा-सा नीचे झाँका तो देखा कि छोटू कमर में पाँयचे खोंसे, कमीज़ की बाँहें मोड़े, हाथ में पानी की बाल्टी लिये खड़ा है और फेंटा-सा कसे बिट्टी सींक की झाड़ू से 'शटाक्-शटाक्' करती आँगन

धो रही है। शरद को देखते ही बोला—

"उठ गए पन्ना भय्या? आइये आप जल्दी से निपट लीजिए, आपका नाश्ता रखा है।"

"बड़े जोरों से धुलाई हो रही है।" शरद के नीचे उतरते ही बिट्टो सिमटकर एक ओर खड़ी हो गई। दोनों बच्चे लोटे भर-भरकर पानी डाल रहे थे।

"आज मकान का मुहूर्त है तो सत्यनारायण की कथा करवाई है। कल से ऊपर की मंजिल का काम शुरू हो जाएगा। आप बाहर निकलें तो जल्दी आइयेगा भय्या।" छोटू के स्वर में उत्साह जैसे छलका पड़ रहा था।

"आज तो यार, हम जाने की सोच रहे हैं।"

"नहीं भय्या, हमारे पंडित की कथा सुनने तो लोग दूर-दूर से आते हैं। आप कल जाइयेगा।"

दूसरे दिन शरद कमरे में अपना सामान ठीक कर रहा था। बाहर छत पर मजदूर गीली सीमेण्ट की तगारियाँ भर-भरकर दूसरी ओर ले जा रहे थे। धोती की तहमद बाँधे ताऊजी खड़े-खड़े उन्हें कमान्डर लहजे में आदेश देते जा रहे थे और नन्हा-मुन्ना ईंट के ढेर पर खड़ा होकर चहक रहा था, 'देखो पन्ना भय्या, कितने ऊँचे पहाड़ पर…"

एक बार और

सारा सामान बस पर लद चुका है। बस छूटने में पाँच मिनट बाकी हैं। ड्राइवर अपनी सीट पर आकर बैठ गया है। सामान को ठीक से जमाकर कुली नीचे उतर आया है और खड़ा-खड़ा बीड़ी फूँक रहा है। अधिकतर यात्री बस में बैठ चुके हैं, पर कुछ लोग अभी बाहर खड़े विदाई की रस्म अदा कर रहे हैं। अड्डे पर फैली इस हल्की-सी चहल-पहल से अनछुई-सी बिन्नी चुप-चुप कुंज के पास खड़ी है। मन में कहीं गहरा सन्नाटा खिच आया है। इस समय कोई भी बात उसके मन में नहीं आ रही है, सिवाय इस बोध के कि समय बहुत लम्बा ही नहीं, बोझिल भी होता जा रहा है। लग रहा है जैसे पाँच मिनट समाप्त होने की प्रतीक्षा में वह कब से यहाँ खड़ी है। कुंज के साथ रहने पर भी समय यों भारी लगे, यह एक नयी अनुभूति है, जिसे महसूस करते हुए भी स्वीकार करने में मन टीस रहा है।

"पान खाओगी ?"

"नहीं।"

"कुछ पिपरमेंट की गोलियाँ पर्स में रख लो।"

"मुझे चक्कर नहीं आते।"

"टिकट ठीक से रख लिया न ?"

"हूँ।"

ये औपचारिक वाक्य दोनों के बीच घिर आये मौन को तोड़ने में कितने असमर्थ हैं, दोनों ही इस बात को जान रहे हैं, पर मौन तोड़ने के

लिए शायद कुछ और है भी नहीं।

अब से कोई पाँच घण्टे पहले चाय पीते-पीते बिन्नी ने किसी प्रसंग और भूमिका के कहा था, "कुंज, मैं आज ही वापस लौट जाऊँगी।"

"क्यों?" हल्के-से विस्मय से उसने पूछा था।

"बस, अब लौट ही जाऊँगी?" चाय के साथ-ही-साथ आँसुओं का घूँट-सा पीते हुए उसने कहा था, तब स्वयं उसके मन में भी शायद यह बात नहीं थी कि आज ही उसे चल देना पड़ेगा।

"तुम तो लम्बा प्रोग्राम बनाकर आयी थीं न?" कुंज के स्वर में जैसे नमी आ गयी थी, पर उसे रोकने का आग्रह या मनुहार जैसी कोई बात नहीं थी। उसके चेहरे के रह-रहकर बदलते भावों से उसके मन की दुविधा का आभास जरूर मिल रहा था। बिन्नी बूँद-बूँद चाय सिप करके अकारण ही समय को खींच रही थी। तभी बैरा अखबार दे गया, तो कुंज को जैसे एक सहारा मिल गया।

बिन्नी उठी और सूटकेस ठीक करने लगी। अधिकतर साड़ियों की तह भी नहीं खुली थी, फिर भी बिन्नी उन्हें निकाल-निकालकर जमाने लगी। हर क्षण उसे लगा था कि कुंज दोनों के बीच खिंच आये इस तनाव को तोड़कर उसे बुरी तरह डाँटेगा और गुस्से में आकर सूटकेस का एक-एक कपड़ा निकालकर बाहर फैला देगा। पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। बड़ी देर तक बिन्नी इधर के कपड़े उधर करती रही, फिर जाकर खिड़की पर खड़ी होकर नीचे से गुजरते सैलानियों को देखती रही और कुंज बड़े निरर्थक से कामों में अपने को व्यस्त बनाये रखने का अभिनय करता रहा। और उस समय का मौन यहाँ तक खिंचा चला आया।

कण्डक्टर ने सीटी बजायी। बिन्नी ने देखा कि एक बड़ी ही निरीह-सी कातरता कुंज के चेहरे पर उभर आयी है। बिन्नी का अपना मन बहने-बहने को हो आया, पर अपने को भरसक साधती-सी बस में चढ़ने लगी। कुंज ने हल्के-से उसकी पीठ पर हाथ रखकर उसे सहारा दिया। बस स्टार्ट हुई, तो कुंज ने कहा, "पहुँचकर लिखना।" बिन्नी ने स्वीकृति में सिर भी

नहीं निलाया गया।

बस चल पड़ी, तो उसके खाली मन पर आक्रोश, निराशा, अवसाद और आत्मग्लानि की परतें जमने लगीं। आँसुओं को आँख की कोरों में ही पीते हुए वह बाहर देखने लगी। मोड़ पर एक बार उसने पीछे की ओर मुड़कर देखा। बस धूल के जो गुबार छोड़ आयी थी, उनके बीच कुंज का सिर दिखायी दिया। पता नहीं वह किस ओर देख रहा था। मोड़ के साथ ही बस ढलान पर चलने लगी। चारों ओर फैली हुई पहाड़ियाँ और उनके बीच अंगड़ाई लेती हुई सुनसान घाटियाँ। कुंज ऊपर ही छूट गया है, और बस उसे तेज़ी से नीचे की ओर ले जा रही है, नीचे—नीचे।

पीछे कोई बराबर खाँस रहा है, जैसे दमे का मरीज हो। इस लगातार की खाँसी से बिन्नी को बेचैनी होने लगी। उसने पीछे मुड़कर देखा। सबसे पिछली सीट पर एक बूढ़ा पैर ऊपर उठाये, घुटनों में मुँह छिपाये लगातार खाँसे जा रहा है। थोड़ी देर में उसकी खाँसी बन्द हो गयी, तो बिन्नी बड़ी बेकली से उसके फिर खाँसने की प्रतीक्षा करने लगी। जब फिर खाँसी चलने लगी, तो उसे जैसे राहत मिली। और हर बार यही होता, उसके खाली मन को टिकने के लिए जैसे एक सहारा मिल गया।

बस से उतरी तो बिन्नी को लगा, जैसे उसका सिर बहुत भारी हो आया है। हवा वास्तव में शायद उतनी गरम नहीं थी, जितनी पहाड़ पर से आनेवालों को लग रही थी। बिन्नी ने वेटिंग-रूम में जाकर हाथ-मुँह धोया, सिर पर ढेर सारा ठण्डा पानी डाला और पंखे के नीचे बैठ गयी।

प्लेटफार्म पर इस समय सन्नाटा-सा ही था। बस से उतरे हुए यात्री वेटिंग-रूम में समा गये थे। नीली वर्दी वाला कोई-कोई खलासी इधर-उधर आता-जाता दिखायी दे जाता था।

धीरे-धीरे साँझ उतरने लगी, तो बिन्नी की आँखों में कल की साँझ उतर आयी।

हवा में काफ़ी ठण्डक थी, फिर भी चढ़ाई के कारण बिन्नी और कुंज

के चेहरे पर पसीने की बूँदें झलक आयी थीं। बिन्नी चुपचाप चल रही थी, अपने में ही डूबी, आत्मलीन-सी।

कुंज शायद समझ रहा था कि फूली हुई साँस के कारण उससे कुछ बोला नहीं जा रहा है। पर नहीं, बिन्नी के पास उस समय बोलने के लिए कुछ था ही नहीं। केवल यह एहसास था कि सारी बात खिसककर ऐसे बिन्दु पर आ गयी है, जहाँ शायद कहने-सुनने के लिए कुछ भी नहीं रह जाता।

"कहीं बैठा जाय अब तो," चुप-चुप चलने से ऊबकर बिन्नी ने कहा।

"बहुत थक गयी?"

"हाँ, अब तो सचमुच बहुत थक गयी।" और जब उसने कुंज की कुछ टटोलती-सी नज़रों को अपने चेहरे पर टिका पाया, तो उसे लगा जैसे कुंज ने उसकी बात को किसी और ही अर्थ में ग्रहण किया है।

बैठते ही कुंज ने उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया। यह स्पर्श, होश सँभालने के बाद पुरुष-स्पर्श से उसका परिचय इस स्पर्श ने ही कराया था। इसी स्पर्श ने भीतर तक गुद-गुदाकर और रोम-रोम में बसकर उसे उसके यौवन का एहसास कराया था। आज एकाएक ही कितना अपरिचित हो उठा है यह स्पर्श-सर्द और निर्जीव।

फिर भी उसने अपना हाथ खींचा नहीं। सूनी-सूनी नज़रों से सामने फैली पहाड़ियों और नीचे उतरती घाटियों को ही देखती रही। कुंज का हाथ थरथराने लगा। वह समझ गयी कि कोई बात है, जो उसके भीतर घुमड़ रही है। पहले जब कभी उसे इस बात का आभास भी मिलता था, तो कितनी उत्सुक हो उठती थी वह जानने के लिए। आज वह न कोई उत्सुकता दिखा रही है, न आग्रह कर रही है। भीतर ही भीतर तो वह जानती भी है कि कुंज क्या बात करेगा। उसने मधु का पत्र पढ़ लिया था। शायद कुंज ने जान-बूझकर ही ड्रेसिंग-टेबिल पर वह पत्र छोड़ दिया था, जिससे कि बिन्नी स्वयं सारी स्थिति समझ ले। फिर भी आशंका

और आशा का मिला-जुला भाव बिन्नी के मन में रह-रहकर तैर रहा है। कुंज सारी बात को किस रूप में रखता है ? किस अधिकार से वह कहेगा कि 'बिन्नी तुम लौट जाओ, अपने को काट लो'। वह जानने-सुनने को उत्सुक भी है, साथ ही यह भी चाहती है कि दोनों के बीच कभी यह प्रसंग उठे ही नहीं। बस, ऐसा ही एकान्त हो, ऐसी ही निर्विघ्न शान्ति हो और इसी प्रकार कुंज उसका हाथ अपने हाथ में लिये बैठा रहे। "बिन्नी !" कुंज अटक जाता है। फिर धीरे-धीरे बिन्नी का हाथ सहलाने लगता है। बिना देखे भी बिन्नी जान लेती है कि बड़ी ही दयनीय-सी विवशता उसके चेहरे पर उभर आयी है।

"बिन्नी, तुम्हीं बताओ मैं क्या करूँ ? मेरी आस्था ही मेरे लिए बहुत भारी पड़ रही है। यह सब अब मुझसे चलता नहीं। यह दुहरी ज़िन्दगी, यह हर क्षण का तनाव···।" वाक्य उससे पूरा नहीं हो पाता। बचे हुए 'शब्द' स्वर के भर्रायेपन में ही डूबकर रह जाते हैं।

बिन्नी कुछ नहीं कहती, केवल अँधेरे में कुंज के चेहरे पर उभर आये भावों को देखने की कोशिश करती है। विश्वास करने की कोशिश करती है कि यह सब कुंज ही कह रहा है। भीतर-ही-भीतर कुंज के ही कुछ वाक्य टुकड़ों-टुकड़ों में गूँजते हैं—"बिन्नी, शादी मुझे इतना संकीर्ण नहीं बना सकेगी कि मैं अपने और सारे सम्बन्धों को झुठला ही दूँ। शादी अपनी जगह रहेगी और मेरा-तुम्हारा सम्बन्ध अपनी जगह !" पता नहीं उस समय इन बातों से उसने अपने को समझाया था या बिन्नी को···। कुंज उसके बाद कुछ नहीं कह पाता। थोड़ी देर बाद वह कहता है, तो केवल यही, "बहुत अँधेरा घिर आया है, अब लौट चलें, वरना···"

और बिन्नी चारों ओर घिरते हुए इस अँधेरे को मन की अनेक परतों पर उतरता हुआ महसूस करती है, लौट जाने की आवश्यकता को भी महसूस करती है, पर समझ नहीं पाती कि आखिर लौटकर जाये कहाँ ?

रात आधी के करीब बीत चुकी है। कमरे के सारे खिड़की-दरवाज़े बन्द हैं। फायर प्लेस में जलती लकड़ियों का चट्ट-पट्ट शब्द ही कमरे के मौन को चीर रहा है। कुंज ने कमरे की बत्ती बन्द कर दी है। केवल लकड़ियों का पीला-पीला आलोक ही कमरे में थिरक रहा है, जिसके साथ दीवालों पर न जाने कैसे बेडौल से साये काँप रहे हैं। उसे लगा वह जब भी कुंज के साथ होती है ऐसी ही बेडौल छायाएँ उसे हमेशा घेरे रहती हैं। कॉफी के खाली प्याले टेबिल पर पड़े हैं और थकी-सी बिन्नी सोफे पर ही तकिया दबाकर अधलेटी-सी पड़ी है। सिगरेट के धुएँ के पारदर्शी बादलों के पीछे से झाँकता हुआ कुंज का चेहरा बिन्नी को एक भावहीन मूर्ति की तरह लग रहा है।

एकाएक बिन्नी को लगा, जैसे बड़ी देर से चुपचाप बैठे हैं और इस एहसास के साथ ही उसे वह एकान्त बड़ा बोझिल लगने लगा। एकान्तिक क्षणों का मौन यों शब्दों से भी ज्यादा मधुर होता है, पर लगा इसके पीछे तो कुछ और ही है। शायद चाहकर भी कुछ न कह पाने की विवशता, बिना सुने ही सब कुछ जान लेने की व्यथा।

कुंज सिगरेट का आखिरी कश लेकर उसे मसलकर भरी हुई एश-ट्रे में ठूँस देता है। फिर शब्दों को ठेलता हुआ-सा वह कहता है, "बिन्नी तुम्हें लेकर मैं अपने को बहुत अपराधी महसूस करता हूँ।" और अब अपनी बात की प्रतिक्रिया जानने के लिए बिन्नी के चेहरे की ओर देखने लगता है। बिन्नी का अपना मन हो आता है कि वह देखे कि उस पीले-पीले आलोक में उसका चेहरा कैसा लग रहा है? कुंज की सीधी नज़रें उसे हमेशा बेचैन कर देती हैं। उसे लगता है जैसे अनायास ही कुंज की नज़रों में तुलना का भाव उभर आया है। यों किसी और के सन्दर्भ में देखे-परखे जाने की भावना हमेशा उसके मन को कचोटती है। पता नहीं कुंज के मन में यह भाव रहता भी है या नहीं, पर वह स्वयं इस भाव से कभी मुक्त नहीं हो पाती।

"तुम शादी कर लो, बिन्नी। मेरी दुर्बलता की कोमल खातिर तुम

क्यों चुकाओ—मुझे लगता है कि जब तक मैं निर्ममता से अपने को काट नहीं लेता तुम किसी और दिशा में सोचोगी ही नहीं। इस बार मुझे कुछ निर्णय ले ही लेना चाहिए।" और वह जैसे आँखों के आगे छायी धुन्ध को दूर करने के लिए दोनों हाथों से आँखें मसलने लगता है।

एकाएक ही बिन्नी का मन बेहद-बेहद कटु हो आता है। मन होता है सुलगती नज़रों से एक बार कुंज को देखे, पर वह छत की ओर देखने लगती है। आँखों के आगे मधु के पढ़े हुए पत्र की पंक्तियाँ उभर आती हैं, 'तुमने विवाह से पहले एक बार भी मुझे बता दिया होता कि तुम किसी और के साथ वचनबद्ध हो तो मैं कभी तुम दोनों के बीच नहीं आती। किसी और का अधिकार छीनने की मेरी आदत नहीं। पर जो अधिकार तुमने स्वेच्छा से दिया उसमें बँटवारा करना भी मेरे लिए सम्भव नहीं। आज भी अपना मन साफ़ करके मुझे बता दो, मैं चुपचाप लौट जाऊँगी। पर उस समय फिर गोद में छिपाकर आँसू मत बहाना। तुम जानते हो तुम्हारे आँसू मुझे कितना दुर्बल बना देते हैं। मैं तुम्हारे निर्णय की प्रतीक्षा करूँगी, इधर या उधर।'

और कुंज ने शायद निर्णय लेने के लिए ही उसे यहाँ बुलाया है। वह जानती है, निर्णय उधर का ही हुआ है। इधर तो जब होना चाहिए था तब नहीं हुआ, जब हो सकता था, तब नहीं हुआ, तो अब क्या होगा। कुंज शायद अपने निर्णय का समर्थन करवाना चाहता है। चाहता है कि बिन्नी स्वयं कहे कि 'मैं अपने को काट लेती हूँ', और वह इस कटने की जिम्मेदारी सीधे बिन्नी पर या 'बिन्नी के हित' पर डालकर अपराध-भावना से मुक्त हो सके। निर्णय उधर का हो चुका है, इसीलिए तो कुंज ने गोदी में सिर रखकर रोने के लिए उसे यहाँ बुलाया है। यदि इधर का होता, तो शायद आज मधु की गोदी में सिर रखकर कुंज रो रहा होता।

बात फिर वहीं टूट गयी। पर बिन्नी ने अच्छी तरह महसूस किया कि जो कोमल तन्तु उन दोनों को वर्षों से बाँधे चला आ रहा था, आज जैसे वह टूट गया है। उन दोनों के बीच 'कुछ' था, जो मर गया है। टूटने-

मरने का यह बोध रात में और भी गहरा हो गया था, जब दो लाशों की तरह वे साथ सोये थे।

कुज सो सका था या नहीं, पर बिन्नी की नम आँखों के सामने सारी रात जाने कैसे-कैसे चित्र ही तैरते रहे—पिछले साल नैनीताल में कुज के साथ बिताये हुए दिनों के चित्र। श्री और श्रीमती कुज श्रीवास्तव के नाम से होटल में कमरा लिया था और बैरा लोग जब मेम साहब कहकर सम्बोधित करते, तो उसे न कुछ अस्वाभाविक लगता था, न अनुचित। उसका सारा व्यवहार इतना स्वाभाविक था मानो वह वर्षों से उसके साथ रहती आयी है, उसकी एक-एक आदत और आवश्यकता से वह खूब अच्छी तरह परिचित है। झील के किनारे की वे बातें आज भी उसे याद हैं, जो शायद कभी उसके जीवन की सच्चाई नहीं बन सकीं, शायद कभी बन भी नहीं सकेंगी—उन्मुक्त प्यार का वह सम्बन्ध जिसे विवाह या किसी ऐसे औपचारिक बन्धन की आवश्यकता नहीं होती—।

बिन्नी की आँखों से आँसू चू पड़े। मन बहुत डूबने लगा, तो उसने आँख खोल दी। फायर प्लेस की लकड़ियाँ बुझ चुकी थीं। अंगारों पर भी राख जम चुकी थी। केवल हल्की-सी गन्ध कमरे में अब भी फैली हुई थी।

उसने धीरे-से करवट ली और मन-ही-मन तय किया, 'कल ही वह लौट जायेगी।'

रेंगती हुई ट्रेन कब प्लेटफार्म पर आ खड़ी हुई—आधी सोती, आधी जागती बिन्नी जान ही नहीं पायी।

"अभी गाड़ी खाली है, अपना बिस्तर लगा लीजिए," कुली ने कहा, तो वह चौंकी।

प्रतीक्षालय में बन्द यात्री कुलियों पर सामान लदवाये प्लेटफार्म पर आ-जा रहे थे। दो-तीन बसें और भी अनेक यात्रियों को पहाड़ से नीचे ले

आयी थीं और हल्का-सा शोर चारों ओर फैलने लगा था।

विन्नी ने जल्दी से सामान उठवाया और जनाने डिब्बे में घुसकर ऊपर वाली वर्थ पर अपना बिस्तरा फैला लिया। उसे लगा आज रात वह नहीं सोयेगी, तो उसका सिर फट जायेगा। थोड़ी देर तक खिड़की के पास बैठी प्लेटफ़ार्म की भीड़ को ही देखती रही, पर जब भीड़ बढ़ने लगी, तो ऊपर चढ़ गयी। आँख बन्द करने पर भी उसे रोशनी का चौंधा असह्य लगता है। जैसे किसी ने चेहरे के सामने टार्च जला दी हो। उसने साड़ी का पल्ला आँख पर डाल लिया।

नीचे का शोर, बच्चों का रोना-चिल्लाना निरन्तर बढ़ता जा रहा है, पर उस सबसे तटस्थ विन्नी अपने में ही डूबी है। गाड़ी चली तो पहली बात उसके दिमाग़ में आयी—यों चार दिन में ही लौट आने की क्या सफाई देगी वह सुषी को? कुंज का पत्र पाकर जब उसने अपने जाने की बात कही थी, तो सुषी विस्मित-सी उसे देखती रह गई थी। रात में सोते समय केवल इतना ही कहा था—"पहले का जाना तो तब भी समझ में आता था, विन्नी, पर अब? जो आदमी बार-बार वायदा करके मुकर जाये, उससे क्या आशा करती है तू?"

"आशा? क्या हमेशा कुछ पाने की आशा से ही सम्बन्ध रखा जाता है।" कहकर ही विन्नी को लगा था कि वह सुषमा को समझा रही है या अपने मन को?

"सम्बन्ध?" सुषमा के स्वर में वितृष्णा भरी खीज उभर आयी। "तू अभी भी समझती है कि तू उसे प्यार करती है या कि यह प्यार है जिसके जोर से तू खिंची हुई चली जाती है? क्यों अपने को धोखा दे रही है, विन्नी? अब तेरे सम्बन्ध का आधार प्यार नहीं, प्रेस्टीज है, कुचला हुआ आत्म-सम्मान। तुझे कुंज नहीं मिला, तो तू अपने को बरबाद करके भी यह सम्भव नहीं होने देगी कि वह मधु को मिले—।"

विन्नी भीतर तक तिलमिला उठी। मन हुआ चीखकर सुषमा को चुप कर दे, पर वह भिंचे गले से केवल इतना ही कह सकी, "तू चुप हो

जा, सुषमा।" थोड़ी देर तक बिन्नी प्रतीक्षा करती रही थी कि सुषमा कोई और कड़ी बात कहेगी, लेकिन सुषमा सचमुच ही चुप हो गयी। बिन्नी समझ गयी, सुषी बहुत नाराज है। इन्हीं नाराजगी में सुषी खूब लड़ती है, पर जब बात उसके लिए असह्य हो जाती है, तो वह चुप हो जाती है। कुंज ने उन दोनों के बीच एक दीवार खड़ी कर दी है और हर बार ही कुछ ऐसा होता है कि उस दीवार पर अनचाहे ही एक पत्थर और चढ़ जाता है। बिन्नी सुषमा के आक्रोश को समझती है, पर सुषी है कि उसके मन की बात नहीं समझ पाती, शायद कभी समझ भी नहीं पायेगी।

बिन्नी का मन हुआ सुषमा उससे लड़ ले, कुछ और कटु बातें उसे सुना दे, पर यों चुप न हो। सब घरवालों से अपने को काटकर बिन्नी यहाँ रह रही है—कैसी-कैसी मानसिक यन्त्रणाओं से वह गुजरी है, पर सुषी का सहारा उसे हमेशा मिलता रहा है, गलत और सही कामों में उसका समर्थन मिलता रहा है। पर इस बार जैसे वह उस आखिरी सहारे को भी तोड़कर कुंज के पास चली आयी थी।

अब क्या कहेगी वह सुषी को! उसकी बन्द पलकों से आँसू चू पड़े।

बिन्नी को लेकर ताँगा जब स्टेशन के बाहर निकला, तो पौ भी नहीं फटी थी। सड़क सुनसान थी और हवा सुहानी। जमादार एक और की मस्ती में—'हवा तुम धीरे बहो' की तान के साथ सड़क झाड़ रहा था। स्टेशन-रोड से ताँगा झील के रास्ते की ओर मुड़ा, तो सड़क के किनारों पर सूने गुलमोहर और अमलतास के पेड़ों की कतार की कतार खड़ी दिखायी दी। और बिन्नी का मन लौटकर उस सुबह की ओर चला गया, जब गुल-मोहर के पेड़ लाल-लाल फूलों से भरे थे और उसका मन विचित्र से सशंकित उल्लास से।

कुंज ने बाँहों में भरकर, अनेक चुम्बन अंकित करके उसे नैनीताल में विदा किया था, इस आश्वासन के साथ कि वे जल्दी ही एक नयी जिन्दगी

की शुरुआत करेंगे। उस दिन जब उसका तांगा इस तरफ़ मुड़ा था, तो उसे लगा था कि उसकी ज़िन्दगी भी अब फूलों के रास्ते की ओर मुड़ गयी है।

इसी तरह सुषी को बिना सूचना दिये वह आयी थी, पर सारे रास्ते उसे लगता रहा था कि घोड़ा बहुत धीरे चल रहा है, या कि रास्ता खिंचकर बहुत लम्बा हो गया है।

सुषमा तांगे की आवाज से ही जागी थी और उसने उनींदी आँखों से ही बिन्नी को बांहों में भर लिया था।

उसके बाद बिन्नी जहां कहीं भी जाती उसे गुलमोहर के लाल-लाल फूल ही दिखायी देते। लोगों का कहना था कि इस साल जैसा गुलमोहर शहर में कभी नहीं फूला था।

फिर एक-एक दिन सरकता गया और गुलमोहर के फूल धीरे-धीरे झड़ते चले गए।

दिन ठण्डे होते चले गए थे और अकारण ही यह ठण्डक सुषमा के मन में पैठती चली जा रही थी। उसने कुंज के पत्र पढ़ना बन्द कर दिया था और कुंज के पत्रों को पढ़कर अकेले झेलना बिन्नी को बहुत भारी लगने लगा था। कुंज को लेकर उसके अपने मन में न जाने कितना आक्रोश और क्षोभ भरा था, पर सुषमा के सामने होते ही उसे कुंज का मुखौटा ओढ़ना पड़ता था। और तब उसका कष्ट कई गुना हो जाता था।

दिसम्बर मे सुषमा अपने देवर-देवरानी के आग्रह की बात कहकर कानपुर चली गयी थी। बिन्नी का बहुत मन हुआ था कि उसे रोक ले, पर उससे कुछ नहीं कहा गया था। चलते समय केवल इतना ही कह पायी थी, "सुषी जल्दी आना, मेरा मन बिल्कुल नहीं लगेगा।" तो सुषमा की आँखों में आँसू आ गये थे और बिन्नी को जैसे आश्वासन मिल गया था कि दोनों के बीच कहीं कोई नहीं है, कभी कोई हो भी नहीं सकता है, कि सुषमा जल्दी ही लौटकर आयेगी।

ताँगे की आवाज़ सुनकर माँजी निकली और उसे देखकर हैरान-सी बोलीं, "अरे बीबी, तुम कैसे लौट आयीं ?"

बिन्नी ने ताँगे वाले को पैसे दिये, माँजी को जवाब नहीं दिया। उसने सोच लिया है कि वह किसी को कुछ नहीं कहेगी, सुषमा को भी नहीं।

माँजी ने होल्डाल उठाया और बिन्नी ने सूटकेस। "सुषमा बीबी कल शाम को ही शर्मा साहब के यहाँ चली गयीं। बीबीजी खुद आकर ले गयीं। आज दोपहर में आने को कह गयी हैं।"

बिन्नी को बड़ी राहत मिली। मित्रता के इतने वर्षों में यह पहला मौका था कि सुषी की उपस्थिति उसे असह्य लग रही थी। पर अपनी इस भावना पर उसका मन ग्लानि से भर उठा।

बरामदा पार करके बिन्नी कमरे में घुसी। वही कमरा, वही सामान। फिर भी उसे लगा कि जैसे दीवारें सिमट आयी हैं और कमरा छोटा हो गया है। इस छोटे-से कमरे में ही उसे बहुत बड़ी जिन्दगी काटनी है। हाथ-मुँह धोकर उसने चाय पी और फिर अपने कमरे के पलंग पर आकर लेट गयी। माँजी आयीं, तो उसने खिड़की खोल दी और परदा एक ओर को सरका दिया। सुबह की कोमल धूप में बिन्नी का शरीर नहा उठा, पर खिड़की की सलाखों ने उसके शरीर को कई टुकड़ों में बाँट दिया। और यों पड़ी-पड़ी बिन्नी दोपहर तक यों ही लेटी रही।

सुषमा आयी तो हैरान। "तू कैसे लौट आयी ?"

"यों ही, मन नहीं लगा इस बार।"

इस बात पर ध्यान दिये बिना सुषी की तेज़ नज़रें बिन्नी के मन में उतरती आ रही थीं। बिन्नी खुद जानती थी कि जो कुछ उसने कहा, वह विश्वास करने लायक नहीं है।

"लड़ाई हो गयी कुञ्ज से ?"

"नहीं तो," कहने को कह तो दिया बिन्नी ने, पर भीतर के ज्वार का वेग जैसे फूट पड़ना चाहता था। किसी तरह अपने को संयत करके वह अख़बार पढ़ने की कोशिश करने लगी। सुषमा भीतर गयी, तो बिन्नी ने

सोचा कि अब वह लौटकर नहीं आयेगी, वह उससे कोई बात नहीं करेगी, साथ रहकर भी उन्हें अजनबियों की तरह ही रहना पड़ेगा, हो सकता है सुपमा यहाँ से चली ही जाये। पर तभी हाथ में बिनाई लिए सुपमा आकर सामने की कुर्सी पर बैठ गयी। सुपमा हमेशा की तरह सहज लग रही थी, मानो चार दिन पहले उनके बीच कुछ हुआ ही न हो।

बिन्नी अखबार एक ओर पटककर पलंग पर ही बैठ गयी। नहीं, सुपमा को वह अपने से यों कटने नहीं देगी। उसने पीठ पर फैले बालों को हथेली पर लपेटकर ढीला-सा जूड़ा बना लिया और सब कुछ बता देने के लिए भीतर-ही-भीतर जैसे अपने को तैयार करने लगी।

"तेरा यों लौट आना बड़ा विचित्र संयोग है, कहूँ बड़ा शुभ संयोग।" और सुपमा ने अपनी नज़र बिनाई पर से उठाकर बिन्नी के चेहरे पर गड़ा दी, जहाँ विस्मय का भाव गहरा होता जा रहा था।

"दिनेश भैया का पत्र देख लिया न !"

"नहीं तो। कहाँ है ?" सुपमा की बात का सूत्र इस पत्र में होगा इस बात का अनुमान-सा लगाते हुए उसने पूछा।

"तेरी दराज़ ही में तो रख दिया था मैंने। और सुपमा ने उठकर उसे पत्र पकड़ा दिया। पत्रों की बेसब्री से राह देखने वाली बिन्नी सवेरे से आकर दराज़ तक न खोले, यह सब, उसकी जिस मानसिक स्थिति का सूचक है, सुपी उसे खूब समझ रही है, पर उसने सोच लिया है कि वह उस बारे में कोई बात नहीं करेगी।

बिन्नी बन्द लिफ़ाफ़े को यों ही उलट-पलटकर देखती रही और मन में जो सबसे पहली बात उठी वह यह कि क्या सचमुच ही सुपी ने अपने को बिन्नी से एकदम काट लिया है ? वरना सुपमा तो नाराज़ होने से पहले तक कुंज तक के पत्र इस अधिकार से पढ़ती थी, मानो वे उसी के लिए लिखे गए हों। सुपमा के विवाह के पहले तक दोनों का हर काम साझे में चलता था। श्याम जी के विदेश जाने के बाद सुपमा बिन्नी के पास आकर रहने लगी, तो यह टूटा हुआ क्रम फिर जुड़ गया था। लेकिन अब ?

बिन्नी ने पत्र पढ़ लिया, तो सुषमा ने प्रतिक्रिया जानने के लिए उसकी ओर देखा। बिन्नी भावहीन चेहरा लिये पत्र को मोड़ती-खोलती रही। उसकी कुछ भी समझ में नहीं आया वह क्या कहे। पत्र में विशेष कुछ था भी नहीं। इधर-उधर की दो-चार बातों के बाद सूचना थी कि नन्दन अपने काम से आ रहा है। शायद दस-बारह दिन ठहरेगा। उसके साथ रसगुल्ले का एक टिन भेज रहे हैं।

"अच्छा हुआ तू आ गयी। मैं तो समझ ही नहीं पा रही थी कि दिनेश भैया को क्या जवाब दूँ?"

बिन्नी समझ गयी कि दिनेश भैया ने सुषमा को अलग से भी पत्र लिखा है। बिन्नी ने अपने को परिवार से काट लिया है, फिर भी कभी-कभी भैया का कर्तव्य-बोध जाग ही जाता है। नन्दन के बारे में उन्होंने पहले भी लिखा था, बिन्नी को कई बार आने का आग्रह भी किया था, पर बिन्नी के अपने मन में नन्दन को लेकर कभी कोई दिलचस्पी नहीं जागी। वही नन्दन अब यहाँ आ रहा है। सुषमा का वाक्य मन की किसी अदृश्य परत पर गूँजा—शुभ संयोग।

"गेस्ट-हाउस में ठहरेंगे। तू कहे तो मैं यहीं ठहरने को कह दूँ?" सुषमा की इस बात से बिन्नी भीतर तक गल गयी। क्या हो गया है इस सुषी को? अपने सारे अधिकार समेट कर यों निरीह बनकर वह बिन्नी से पूछे। शादी के बाद से सुषमा कैसे अनायास ही उसकी अन्तरंग मित्र से अभिभाविका बन बैठी—यह आज तक वह नहीं समझ सकी थी। पिछले डेढ़ साल से जो सुषमा साधिकार आदेश ही देती आयी है, वह निरीह बनकर यों उसकी अनुमति ले? उसका मन हुआ सुषमा के दोनों कन्धे झकझोर कर पूछे, 'तू भी मुझे अपने में काटकर अलग कर देना चाहती है, तो साफ क्यों नहीं कहती···ये इस तरह की बातें।' पर उससे केवल इतना ही कहा गया, "मुझसे क्या पूछती है, यह तेरा घर नहीं है क्या?" स्वर में कुछ ऐसी आर्द्रता थी कि सुषमा हैरान-सी देखती रह गयी और बिन्नी उठकर भीतर चली गयी।

चार बजे के करीब घर के सामने जीप रुकी, तो एक क्षण के लिए भी अनुमान लगाने की आवश्यकता नहीं हुई। हाथ की बिनाई पलंग पर पटक कर स्वागत के लिए सुषमा बाहर निकली। बिन्नी से चाहकर भी दरवाज़े से आगे नहीं बढ़ा गया। सुषमा ने कुछ इस आत्मीयता से नन्दन को लिया मानो उसकी पुरानी परिचिता हो, पर बिन्नी उनके बरामदे में आने और परिचय करवाने के बाद ही नमस्कार कर सकी।

परसों से ही सुषमा ने कमरा अच्छी तरह सजा रखा था। "हम तो कल से ही आपकी राह देख रहे थे।"

नन्दन ने एक उड़ती-सी नज़र कमरे पर डाली, तो सुषी के चेहरे पर सन्तोष का भाव उभर आया। उसका सजाना व्यर्थ नहीं गया।

"कल दोपहर में तो पहुँचा ही था—कुछ लोग आ गए, काम का प्लान डिस्कस करना था, सो शाम उसी में बीत गयी।"

फिर रसगुल्ले का टिन बढ़ाते हुए बोला, "इसे संभालिए। सारे रास्ते मुश्किल से अपने को रोकता आया हूँ। कलकत्ते में रहकर भी रसगुल्ले मेरी कमज़ोरी है।" और वह खुलकर हँस पड़ा।

तब बिन्नी के मन में कहीं कुंज की हँसी कौंधी। उसने पहली बार भरपूर नज़र से नन्दन को देखा। अपेक्षाकृत थोड़ा दुबला और लम्बा। रंग थोड़ा साँवला, पर चमकता हुआ चौड़ा ललाट और सिर पर घुँघराले बाल। तभी लगा जैसे अदृश्य रूप में कुंज भी नन्दन के साथ-साथ ही आया है।

बिना परिचय के बातचीत का आधार दिनेश भैया का परिवार ही हो सकता था, पर सुषमा ने नन्दन से ही सीधा सूत्र जोड़ा। उसके अनेकानेक आत्मीय प्रश्नों ने अपरिचय के इस बोध को टिकने नहीं दिया—"सफ़र में तकलीफ़ तो नहीं हुई? ठहरने की जगह पसन्द है? असुविधा न हो तो यहाँ आकर ठहरिए, हमें बड़ी खुशी होगी—जैसे दिनेश भैया वैसे आप। कितने दिन ठहरेंगे? क्या कार्यक्रम रहा करेगा?"

और बिन्नी सोच रही थी कि वह भी इसी सहज भाव से क्यों नहीं

हँस-बोल पा रही है। वह तो इस तरह बैठी है, मानो नन्दन उसे देखने आया है और वह लाज से सिमटी जा रही है। इस भावना मात्र से वह बेचैन हो उठी, मन हुआ एक चक्कर भीतर का ही लगा आये। तभी मांजी चाय की ट्रे ले आयी, तो बिन्नी को जैसे सक्रिय होने के लिए आधार मिल गया।

"बिन्नी जी, आपको दिनेश बहुत याद करते हैं और मिकी पिन्टू ने तो आदेश दिया है कि बुआ को साथ ही लेते आइए।"

चाय का प्याला बढ़ाते हुए बिन्नी ने नन्दन को देखा—क्या सचमुच उसे सबने बुलाया है या कि—क्या भैया ने नन्दन को इस तरह का कोई संकेत दे रखा है?

"यहाँ आपका काम क्या रहेगा? किस प्रोजेक्ट पर आये हैं आप?" इतनी देर में बिन्नी की ओर से पहला प्रश्न था।

"हमें विभिन्न प्रान्तों के आदिवासियों की विवाह-पद्धति पर तथ्य इकट्ठे करने हैं।"

"यह तो बड़ा दिलचस्प काम है!"

"ओह, बड़ा दिलचस्प। वेरी इण्टरेस्टिंग। मैं तो चकित हूँ कि इस अकेले देश में कितनी तरह के रस्म-रिवाज हैं!" और फिर बातें विभिन्न प्रकार की विवाह-पद्धतियों पर ही चल पड़ीं। नन्दन जब जाने लगा, तो यह तय हुआ कि जब भी वह खाली होगा, बिना किसी औपचारिकता के यहाँ आ जाया करेगा। यहाँ के जो तीन-चार दर्शनीय स्थान हैं, वे साथ ही देखे जायेंगे।

उस दिन चले जाने के बाद भी बड़ी देर तक नन्दन उस घर में बना रहा।

बीतते अक्तूबर की साँझ। बिन्नी छत पर चली आयी। सामने सड़क पर गायों का एक झुण्ड सारे वातावरण को मटमैला बनाता हुआ गुज़र गया

है। पीछे के मैदान में गुल्ली-डण्डा खेलते हुए बच्चों का शोर बहुत साफ़ सुनायी दे रहा है। बिन्नी निरुद्देश्य-सी यही सब देख रही है।

उस दिन के बाद तीन दिन बीत गये नन्दन नहीं आया। यों वह कह गया था कि दो-दो, तीन-तीन दिन के अन्तराल से ही वह आ पायेगा, फिर भी हर दिन सुषमा ने उसकी राह देखी है, शायद बिन्नी ने भी। नन्दन के आगमन ने बिन्नी और सुषमा के बीच आ गये खिचाव को अनायास ही तोड़ दिया था। पर आज सवेरे जब से कुंज का पत्र आया है, सुषमा फिर चुप है। बिन्नी जानती है कि चौदह साल पुरानी इस घनिष्ठ मैत्री का आज अपना कोई अस्तित्व नहीं रह गया है। दूसरे ही उसके निर्णायक हो गये हैं? बस, सवेरे से वह अकेली अपने कमरे से उठकर कभी सामने के छोटे-से लॉन में गयी है, तो कभी पीछे के आँगन में। नयी आयी पत्रिका की हर कहानी उसने शुरू की है, पर पूरा किसी को नहीं किया। दिन में एक घण्टा लेटी है, पर नींद एक मिनट को नहीं आयी। सुषमा तनाव के ऐसे क्षणों में भी कैसे इतनी सहज रह लेती है? सवेरे से ही वह श्यामजी के लिए स्वेटर बना रही है। बिन्नी अपना मन ऐसे कामों में ज़रा भी नहीं लगा पाती। आज तो उसे खुद विश्वास नहीं होता कि कभी वह और सुषमा होड़ लगाकर सिलाई, कढ़ाई और बिनाई किया करती थीं। घण्टों घूम-घूमकर साड़ियाँ और चूड़ियाँ खरीदती थीं। सुषी को आज भी इन सारे कामों में वैसी ही रुचि है, यह तो बिन्नी ही है जो बदल गयी है।

उसने माँजी की खाट बिछायी और बाँह का तकिया बनाकर चित्त लेट गयी। कुंज ने उसे अब पत्र क्यों लिखा? कई बार उसने वह पत्र पढ़ा है। वे ही शब्द—कुछ प्यार के, कुछ मजबूरी के, कुछ अपनी आस्था और मान्यताओं के। भावनाओं की लाश ढोते हुए ये शब्द उसे अब कहीं नहीं छूते। वह जानती है यह मात्र एक औपचारिकता है, जिसे निभाने के लिए कुंज मजबूर है। वह आज तक नहीं समझ पायी कि कुंज उससे आखिर चाहता क्या है? सुषमा की बात तो उसे भीतर तक कँपा देती है। सुषमा कुंज को लेकर बहुत संकीर्ण और कटु हो गयी है। आज से पाँच साल

पहले तक कुञ्ज दुनिया का सबसे उत्कृष्ट व्यक्ति था। आज सबमें निकृष्ट। सारी मजबूरियों के बावजूद वह उसे माफ नहीं कर पाती है। उसे वह मजबूरी ही नहीं लगती। वह कभी सुषमा की बात से सहमत नहीं हो पायी है, पर सुषमा अपनी हर बात दावे के साथ कहती है, व्यक्तियों का विश्लेषण करने की अपनी क्षमता पर उसे गर्व है। बिन्नी को न कोई ऐसा दावा है, न गर्व। वह तो जितनी सोचती है, उतनी ही उलझती जाती है और फिर उसका दिमाग सुन्न हो जाता है।

"बिन्नी!"

बिन्नी ने ज़रा-सा सिर उठाकर देखा, तो सीढ़ियों पर सुषी खड़ी थी।

"नन्दन आये हैं।" और वह जैसे आयी थी, वैसे ही लौट गयी। बिन्नी क्षण-भर यही सोचती रही कि यह मात्र सूचना है या बुलावा। फिर वह उठी। खड़े होते ही सामने फाटक पर जीप खड़ी दिखायी दी। आश्चर्य है उसने जीप की आवाज तक नहीं सुनी!

नीचे उतरकर उसने साड़ी और बाल ठीक किये। खयाल आया सुषमा ने सूचना देने के लिए ऊपर आने का कष्ट यों ही नहीं किया। वह चाहती है कि नन्दन के सामने बिन्नी ठीक से ही आये। उसका अपना मन हो रहा है कि कम-से-कम वह साड़ी बदल ही ले—पर फिर वह यों ही घुस गयी।

बिन्नी के घुसते ही नन्दन ने स्वागत किया, "आइए बिन्नी जी!" तो बिन्नी को लगा यह बात या ऐसी ही कोई बात तो उसे कहनी चाहिए थी। वह मुस्करा कर बैठ गयी।

नन्दन बात का टूटा सूत्र जोड़कर फिर सुषमा के साथ व्यस्त हो गया। यहाँ के आदिवासियों की तलाक की प्रथा पर बात हो रही थी शायद। बिन्नी का मन बात में नहीं है शायद रह-रहकर उसकी नज़र नन्दन की बायीं कनपटी पर बने घाव के निशान पर चली जाती है। वह सोच रही है—किस चोट का होगा यह निशान, कैसे लगी होगी?

"आप लोग अनुमति दें तो एक सिगरेट पी लूं ?" और अनुमति का अवसर दिये बिना ही उसने जेब से सिगरेट और लाइटर निकाला। लाइटर देखकर बिन्नी चौंकी ! कुछ-कुछ इसी तरह का लाइटर उसने कुंज को उपहार में दिया था।

"नहीं, आज वह केवल कुंज में ही मिलेगी।" भीतर-ही-भीतर उसने जैसे निश्चय किया।

सुषमा किसी बात पर नन्दन से बहस करने लगी है शायद। बिन्नी सुन अवश्य रही है, पर केवल सुन भर रही है। उसे लग रहा है, जैसे कुछ ध्वनियाँ हैं, जो कमरे में तैर रही हैं, कुछ शब्द हैं, जो कमरे में बिखरे हुए हैं—विवाह, प्रेम, तलाक़ आज का जीवन···!

एकाएक बिन्नी अपने चेहरे पर नन्दन की सीधी नज़रें महसूस करती है। उसकी नज़रें हैं कि उसे कहीं भीतर से खींच कर बाहर ले आती हैं।

"आप इस विषय पर क्या सोचती हैं, बिन्नी जी ?"

बिन्नी चुप ! उसे पता ही नहीं, विषय क्या है ? पर नन्दन की नज़रें हैं कि हट नहीं रही हैं। तब किसी तरह होंठों पर जबरन हल्की-सी मुस्कराहट खींचकर धीरे-से वह कहती है, "मैं इन विषयों पर कुछ भी नहीं सोचती ?"

"लीजिए, तब आप क्या सोचती रहती हैं इतना चुप-चुप रहकर ? आत्मा-परमात्मा की बातें ?" और वह हँसा तो बिन्नी के मन में पहली बात आयी—नन्दन जानता है कि वह दर्शन-शास्त्र पढ़ाती है। और क्या-क्या जानता है उसके बारे में ?

"सुषमाजी, आप तो इतना बोलती हैं, पर अपनी मित्र को बोलना नहीं सिखाया आपने ?"

और जब सुषमा ने भी हँसते हुए कहा, "दोनों ही इतना बोलने लगेंगे तो फिर सुनेगा कौन, नन्दनजी, किसी को तो श्रोता होना ही चाहिए।" तो वह बड़ी देर तक यही सोचती रही कि कितना अच्छा होता यदि यही बात वह कह पाती। उसने एक बार अपने को पूरी तरह झकझोरना

चाहा। चाहा कि वह भी उनकी बातों में, उनकी हँसी में खुलकर भाग ले सके। जो कुछ कहा-सुना जा रहा है, उसे मात्र सुने ही नहीं, समझे भी।

उसे क्या होता जा रहा है? आज सवेरे से उसने कितनी बार कुश का पत्र पढ़ा है, पर हर बार उसे लगा जैसे वे निरे वाक्य हैं, अर्थहीन और बेजान! केवल आज से ही नहीं, पिछले कुछ दिनों से बराबर उसे यही लग रहा है कि जैसे सब चीज़ों के, सब बातों के, सब सम्बन्धों के अर्थ चुक गये हैं। देखा, सुना, पढ़ा कुछ भी तो उसकी समझ में नहीं आता है। और यही अर्थहीनता फैलते-फैलते उसके जीवन में समा गयी है। सामने बैठा यह नन्दन उसे केवल एक आकार मात्र लग रहा है। उससे अधिक उसका या उसकी बातों का कोई भी तो अर्थ उसकी समझ में नहीं आ रहा है। धीरे-धीरे शायद यह फैलती ही चली जायेगी, फैलती ही चली जायेगी…।

बिन्नी एकाएक उठकर भीतर चली गयी। भीतर आकर और कुछ समझ में नहीं आया, तो माँजी की मदद करने के लिए रसोईघर में चली गया।

आँखों के आगे गहरी धुंध छा गयी थी।

थोड़ी देर बाद एक ट्रे माँजी के हाथ में और एक अपने हाथ में लेकर वह चली, तो आँखें सूखी थी और हर चीज उसे बहुत साफ दिखायी दे रही थी।

इस बीच कमरे में बत्ती जला दी गयी थी और उस दूधिया आलोक में वह कमरा, कमरे की हर वस्तु और सामने बैठा नन्दन उसे एक बार बिलकुल नया-सा लगा।

पता नहीं किस बात पर नन्दन हँस रहा था। उसे देखते ही बोला, "देखिए, बिन्नी जी, मैं इनसे कह रहा हूँ कि यहाँ आपने भी अकेले-अकेले श्यामजी को दो साल के लिए विदेश भेज दिया। कहीं मेम-वेम ले आये

तो…।"

बीच में ही सुषमा सुर्ख होती हुई बोली, "ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। ये तो कभी ऐसा कर ही नहीं सकते। दो साल क्या, पाँच साल के लिए भी रह लें तो…!"

और सुर्खी उसके गालों से फैलकर कानों तक को लाल कर गयी। चाय बनाते-बनाते बिन्नी के मन का कोई अदृश्य कोना बुरी तरह कराह उठा—काश वह भी किसी को लेकर इतने ही विश्वासपूर्ण ढंग से कह पाती। किसी का सम्पूर्ण और एकनिष्ठ प्यार उसके गालों पर भी ऐसी ही सुर्खी पोत पाता।

अनायास ही उसकी नज़र नन्दन की ओर उठ गयी।

फाटक पर खड़े-खड़े ही आने वाली सन्ध्याओं का कार्य-क्रम बन रहा है। अभी-अभी सामने से गायों का एक झुण्ड गुज़र चुका है। धूल का गुबार और गले में बँधी घण्टियों की आवाज़ धीरे-धीरे दूर होती जा रही है।

तीसरी बार और अन्तिम बार नमस्कार करके नन्दन जीप में बैठ गया। घर्र-घर्र के ज़ोरदार शब्द में एक क्षण को और सारी ध्वनियाँ जैसे डूब गयीं।

कच्ची सड़क पर पहियों के गहरे निशान छोड़कर नन्दन की जीप दूर जाकर अदृश्य हो गयी।

बिन्नी और सुषमा के बीच में से केवल नन्दन ही नहीं गया, वह अपने साथ, दोनों के बीच सवेरे से आये तनाव को भी लेता गया।

गायें चली गयीं, जीप चली गयी। केवल वे शब्द, वे ध्वनियाँ बड़ी देर तक बिन्नी के मन में गूँजती रहीं।

रात में बिन्नी सोयी, तो सुषमा उसके बालों को सहलाते हुए समझा रही थी, "देख बिन्नी, अब पागलपन मत करना। नन्दन जैसा आदमी तुझे मिलेगा नहीं। दिनेश भइया ने आखिर कुछ सोचकर ही इतनी बार लिखा। इन हवाई बातों में कुछ नहीं रखा है, ज़िन्दगी अपने ढं[illegible] है।"

और मन में कहीं कुंज के शब्द टकरा रहे थे, "हम उस अभागी पीढ़ी के हैं, बिन्नी, जो नये विचारों और नयी भावनाओं को जन्म देने में हमेशा ही खाद बन जाती है।"

पूरी तरह खाद बना हुआ—किसी भी बात को ग्रहण करने में असमर्थ बिन्नी का मन केवल यही चाह रहा था कि वह फूट-फूट कर रो ले।

सर्दी के वे दिन बड़े मनहूस और उदास बीते थे। उसने तभी महसूस किया था कि आदमियों की भी अपनी एक गर्मी होती है। सारे घर में किसी को न देखकर सर्दी जैसे फैल-पसरकर बैठ गयी थी। नैनीताल जाने से पहले वह 'कुछ सुखों' से अपरिचित थी, पर अब रात में जब शरीर की अपनी भूख जागती, तो अपने को साधना उसके लिए कठिन हो जाता।

उसने कुंज को लिखा था कि तुम जैसे भी हो एक सप्ताह के लिए आ जाओ। पर कुंज व्यस्त था और कुंज की व्यस्तता उसकी इच्छा से बड़ी थी। बिन्नी जानती है कि कुंज के सारे समय पर उसका अधिकार नहीं है, केवल उसका खाली समय ही बिन्नी के लिए है। खाली समय में भी यदि वह चाहे तो। तब उसने मन-ही-मन निर्णय लिया था कि वह जैसे भी होगा अपनी ज़िन्दगी को नया मोड़ देगी, अपने को इस मोह से मुक्त करेगी। पर कुंज के पत्रों के सामने उसके सारे निर्णय गल गये थे और अपने को मोड़कर वह कहाँ ले जाये, इस असमंजस में लौटकर फिर कुंज के पास ही आ गयी थी।

पर अब ?

कल नन्दन चला जायेगा।

उसके बाद जब भी नन्दन आया, वे लोग साथ घूमने गये। लौटकर साथ खाना खाया। यह सुषमा का विशेष आग्रह था। सुषमा नन्दन, नन्दन

की आत्मीयता, उसके स्वभाव को लेकर बहुत प्रसन्न है। बिन्नी केवल इतना महसूस कर पायी है कि पिछली दो मुलाकातों में वह उनके बीच अकेला ही रहा है। कुंज अनुपस्थित होता चला गया।

आज का प्रोग्राम यों बना था कि नन्दन गेस्ट-हाउस से सीधे झील पर पहुँचेगा और ये दोनों घर से जायेंगी। जाने का समय हुआ तो सुषमा ने कहा, "बिन्नी, आज तू अकेली ही चली जा।"

"क्यों ?" आश्चर्य से बिन्नी ने पूछा।

"मैं कह रही हूँ इसलिए।" फिर रुककर बोली, "हो सकता है वे तुमसे कुछ बात ही करना चाहते हों।"

बिन्नी चुप रही। पर इस मौन में सुषमा का प्रस्ताव मानने की स्वीकृति नहीं थी।

"देख बिन्नी, आज तक तू जो कुछ सही-गलत करती आयी मैंने इच्छा या अनिच्छा से तेरा साथ दिया। पर आज मेरा इतना-सा आग्रह तुझे रखना ही होगा।" और बिन्नी की कुर्सी के हत्थे पर बैठकर ही वह उसकी पीठ सहलाने लगी।

सुषमा के इस अभिभावकपन से बिन्नी के अहं को पहले कभी-कभी बड़ी ठेस लगा करती थी, पर अब वह उसकी आदी हो गयी है। बल्कि अब तो वह उससे ऐसे व्यवहार की अपेक्षा करती है।

"देख, नन्दन कोई संकेत दे, तो पत्थर बनकर मत बैठी रहना।" तो बिन्नी का मन भीतर से हँसा भी, रोया भी। क्या-क्या सोचती है यह सुषमा भी। पर सुषमा ने उसे अकेले जाने पर मजबूर कर दिया।

बिन्नी जब पहुँची, तो दूर से ही देखा, नन्दन उनकी प्रतीक्षा कर रहा है। पता नहीं क्या बात है कि चाहकर भी वह कभी समय पर नहीं पहुँच पाती है। एक बार सुषी इतनी खीज पड़ी थी कि बददुआ देती-सी बोली थी, "भगवान करे कभी तुझे जिन्दगी भर प्रतीक्षा करनी पड़े। तब उसने कल्पना

भी नहीं की थी कि किसी पहुँचे हुए ऋषि की तरह उसका शाप बिन्नी के जीवन का सबसे बड़ा, सबसे कटु सत्य बनकर रह जायेगा। सुपी तो शायद भूल भी गयी होगी, पर बिन्नी का तो मन ही ऐसा है कि हर बात वहीं खुद कर रह जाती है।

एक क्षण चुपचाप खड़े रहने के बाद धीरे-से बिन्नी ने कहा, "नमस्कार" तो नन्दन चौंककर पीछे को घूमा। बिन्नी ने देखा, टी-शर्ट ने उसकी उम्र के दो-तीन साल कम कर दिये हैं।

"सुषमाजी कहाँ है ?" उसने सिगरेट को होंठों में निकालते हुए पूछा।

"सुपी नहीं आयी", और अपनी बात की प्रतिक्रिया जानने के लिए उसने एक क्षण को नन्दन के चेहरे की ओर देखा। पर तभी उसे स्वयं यों अकेले चला आना बड़ा अजीब-सा लगा। क्या सोचेंगे नन्दन ? बात को सभालते हुए बोली, "वह आज आपके लिए एक स्पेशल डिश बनाने के लिए घर पर ही रुक गयी।"

"लीजिए, आज तो हमारा फेयरवेल—डिनर है। मुझे ठीक आठ बजे गेस्ट-हाउस पहुँच जाना है, वहाँ सब मेरा इन्तज़ार करेंगे।"

"पर यह तो पहले ही तय हो चुका है कि हम लोग जब भी घूमने का प्रोग्राम रखेंगे, तब आप खाना हमारे साथ ही खायेंगे। फिर यों भी आज तो आपका आखिरी दिन है।" कहने के साथ ही लगा कि कहीं नन्दन अभी सुषमा के पास जाने का प्रस्ताव न रख दें। पर नन्दन ने केवल इतना ही कहा—

"क्या करता, उन लोगों का बहुत आग्रह था।" और धुआँ छोड़ता हुआ नन्दन झील की ओर देखने लगा। बिन्नी ने सोचा—सुषमा के बिना वह क्या बात करेगी नन्दन से ? नन्दन को क्या सचमुच उससे कुछ कहना है ? आज कुछ कहेगा वह ?

"चलिए हम उसी कच्ची जगह पर बैठें।" और कहने के साथ ही नन्दन चल पड़ा। बिन्नी चुपचाप उसके बराबर चलने लगी। घाट के

आखिरी सिरे पर थोड़ी-सी जगह कच्ची छूट गयी है, जहाँ पानी में पैर डालकर बैठा जा सकता है। वह हिस्सा अपेक्षाकृत सुनसान भी है, लोग इस पक्के किनारे पर ही घूमते हैं।

वहाँ पहुँचकर नन्दन ने जेब से रूमाल निकाला और बिछाकर बोला, "आप इस पर बैठिए।"

"नहीं, मैं वैसे ही बैठ जाऊँगी।" बिन्नी को स्वयं अपना स्वर बहुत मद्धिम लगा।

"अरे, वाह, आपकी साड़ी खराब हो जायेगी।" और उसने भरपूर नज़रों से बिन्नी को ऊपर से नीचे तक देखा, तो बिन्नी भीतर तक सिमट गयी। चन्देरी की हल्की पीली साड़ी का गहरा चटक बैंगनी बॉर्डर और ज्यादा मुखर लगने लगा। उसे यह साड़ी पहनकर नहीं आना चाहिए था। क्या सोचा होगा नन्दन ने? वह अपनी ओर से ऐसी किसी बात का संकेत नहीं देना चाहती। अच्छा हुआ उसने बालों में लगे बैंगनी फूल के गुच्छे को रास्ते में ही निकाल दिया, जो चलते समय सुषमा ने हँसते हुए खोंस दिया था।

खयाल आया मेरठ में घरवालों से छिपकर जब वह कुंज से मिलने जाया करती थी, तब भी सुषमा इसी तरह अपने घर ले जाकर उसे अपनी चीजें पहना दिया करती थी। कुंज हो, नन्दन हो, सुषमा के लिए कोई फरक नहीं पड़ता शायद। और उसे?

"आप संकोच मत करिए, बैठ जाइए।" और वह बैठती उसके पहले ही नन्दन पूरा पैर फैलाकर बड़ी बेतकल्लुफी से बैठ गया। तब बिन्नी रूमाल पर बैठ गयी।

"आपकी यह झील मुझे बहुत ही पसन्द आयी। जानती हैं, कल रात को पता नहीं क्यों नींद उचट गयी। बहुत कोशिश करने पर भी जब सो नहीं सका, तो उठकर यहाँ चला आया। रात के सन्नाटे में किनारे पर बैठकर बड़ी ही विचित्र अनुभूति हुई। अद्भुत!"

और बिन्नी सोच रही थी—नन्दन के नींद न आने का कारण क्या

रहा होगा ? रात बारह बजे के करीब सुषमा उससे बातें करके सोयी थी, पर वह उसके बाद भी बड़ी देर तक सामने लगे यूकलिप्ट्स के ऊँचे-ऊँचे पेड़ों की कतार मे नजर उलझाये न जाने क्या-क्या गुनती-बुनती रही थी।

अक्सर ही सुषमा जब सो जाती है, तो अनचाहे ही कुछ उसके मन मे जाग जाता है। आज भी सुषमा की अनुपस्थिति में उसे हल्के-से कुछ की उपस्थिति का अहसास हो रहा है।

नन्दन एकटक सामने की झील को देख रहा था। इस समय भी क्या वह किसी अनुभूति के क्षणों मे से गुजर रहा है ? झील का पानी एकदम शान्त था और सामने की त्रिभुजाकार पहाड़ियों की पूरी कतार पानी मे तैर रही थी।

"आप और सुषमाजी बहुत ही घनिष्ठ हैं न ? दिनेश बता रहे थे।"

'घनिष्ठ'। बिन्नी को सुषमा के सम्बन्ध के लिए यह शब्द बहुत ही हल्का लगा।

"हूँ। मेरठ मे हमारे घर लगे हुए थे, सो सारा परिवार ही यों तो बहुत घनिष्ठ हो उठा था। फिर हम हम-उम्र और एक साथ पढ़नेवाले। आठवीं से लेकर एम० ए० तक साथ-साथ पढ़े। इसके बाद इसने शादी कर ली और मैंने यहाँ नौकरी कर ली। शादी के एक साल बाद ही श्याम जी विदेश चले गये, दो साल के लिए, तो मैंने आग्रह करके अपने पास बुला लिया। जनवरी मे आकर वे इसे भी अपने साथ ले जायेंगे।" फिर एक क्षण ठहरकर बोली, "मेरे लिए तो फ्रेण्ड, फिलॉसफर, गाइड सभी कुछ है।" मन में कहीं कौंधा—'पितृ-मातृ-सहायक-स्वामी-सखा' कुछ कहा करता था।

"इनके जाने से तो आप बहुत अकेली हो जायेंगी ?" और सिगरेट का आखिरी कश खींचकर, जरा-सा आगे को झुककर उसने टोंटे को पानी में उछाल दिया। वह जलता हुआ टुकड़ा 'छुप' से पानी में डूब गया और छोटे-छोटे नामालूम से धुएँ पानी की सतह पर फैलते ही बने रहे। उन धुओं को बिन्नी ने भीतर तक उतरते हुए महसूस किया।

"इसमें सन्देह नहीं कि यह जगह बहुत खूबसूरत है, पर हमेशा यहाँ रहना पड़े, तो आदमी शायद बुरी तरह बोर हो जाये। आपको ऐसा नहीं लगता ?" नन्दन के स्वर की आत्मीयता बिन्नी को अच्छी लगी।

"कोई खास नहीं। अब तो कॉलेज खुल गये, दिन यहाँ गुज़र जाता है और शाम अपनी झोंपड़ी में या इस झील के किनारे।"

"आप कलकत्ता क्यों नहीं आ जातीं ? वहाँ दिनेश भी है, फिर काम के अलावा और पचास तरह की एक्टिविटीज हैं। यहाँ तो मुझे कुछ भी नज़र नहीं आता।"

बिन्नी ने गौर से नन्दन को देखा। इस निमन्त्रण के पीछे, इन आग्रह भरे शब्दों के पीछे कुछ और भी अर्थ लिपटे हैं या नहीं ? क्या नन्दन सच-मुच चाहता है कि बिन्नी कलकत्ता चली जाये।

"मुझे बड़े शहरों की भीड़-भाड़ पसन्द नहीं। शुरू से ही छोटी जगहों पर रही हूँ।"

"और कुछ चुप्पी भी हूँ, इसलिए सब कुछ चुपचुप अच्छा लगता है।" हँसते हुए नन्दन ने बिन्नी के वाक्य को जैसे पूरा किया, तो बिन्नी भी हँस पड़ी।

"सचमुच आप बहुत इण्ट्रोवर्ट हैं। इतना चुप-चुप रहकर दम नहीं घुटता आपका ? इस उम्र में तो आदमी को खूब बोलना चाहिए, खुलकर हँसना चाहिए। नहीं ? सुषमाजी को देखिए कितना हँसती-बोलती हैं।" तो ऊपर से वह मुस्करा दी। भीतर-ही-भीतर लगा, काश ! उसकी ज़िंदगी भी सुषमा की तरह होती निश्चित और आश्वस्त।

नन्दन ने जेब से दूसरी सिगरेट निकाली और उसे सुलगाकर कुछ सोचते हुए बोला, "अच्छा एक बात बताइए।" फिर जाने क्या सोचकर रुक गया। आँखों में प्रश्नवाचक भाव आँजे बिन्नी एकटक नन्दन को देखती रही।

"देखिए, कुछ गलत मत समझिए। यों ही मेरे मन में कुछ जिज्ञासा है।"

बिन्नी को अपने हृदय की धड़कन तक सुनायी देने लगी—सीधे ही कुछ पूछ लिया तो ?

"सुषमा जी और श्यामजी के सम्बन्ध तो बहुत अच्छे हैं न ?"

"हाँ, क्यों ?" विस्मय से बिन्नी ने पूछा।

"उन्होंने दुनिया भर की बातें कीं, पर श्यामजी के बारे में पूछने पर ही कुछ बताया, जबकि औरतों के पास बात करने के लिए पति-पुराण के सिवाय और कोई विषय ही नहीं होता।" और नन्दन हँस पड़ा।

बिन्नी के मन में मुक्ति और हल्की-सी निराशा की भावना एक साथ ही जागी। "बहुत-बहुत अच्छे हैं। मैंने तो ऐसा डिवोटेड—कपल नहीं देखा।" और कहने के साथ ही उसके अपने भीतर कहीं एक बिखरा स्वप्न कसमसा उठा।

"उनको देखकर तो मुझे भी यही लगता है, पर जब-जब वे मिलीं उनकी प्रेम और विवाह वाली बातों से लगा, जैसे ये मात्र जिज्ञासाएँ नहीं हैं, मानो इनका सम्बन्ध कहीं व्यक्तिगत जीवन से जुड़ा हुआ है।"

एक क्षण को बिन्नी भीतर तक सिहर उठी, पर फिर अपने को सहज बनाती-सी बोली, "उसकी तो आदत है कि किसी बात के पीछे पड़ जाती है, तो जब तक उसका रेशा-रेशा न उधेड़ दे उसे चैन नहीं मिलता।" और वह मुस्करा दी।

"रियली शी इज ए नाइस लेडी।" फिर सिगरेट के दो कश एक साथ खींचकर उसने कहा, "ये सोलह दिन कैसे निकल गए पता ही नहीं लगा। दिनेश ने मुझे कहा था कि खाली समय के लिए यू विल फाइण्ड देम ए गुड कम्पनी। आप लोगों के साथ बिताये ये दिन याद आयेंगे। खासकर के झील के किनारे की ये शामें।" बिन्नी को लगा जैसे नन्दन का स्वर कहीं दूर से आकर उसके मन की गहराइयों में गूंजता चला जा रहा है और अर्थ है कि सुनते चले जा रहे हैं। सुषमा की बात याद आई, 'कोई संकेत दे तो पत्थर होकर मत बैठना' और उसकी तेज निगाहें नन्दन के मन तक पहुँचने के लिए छटपटाने लगीं। पर नन्दन अपने में ही खोया-सा झील की

ओर देख रहा था।

चुपचुप बिन्नी घुटने पर ठोड़ी टिकाये उँगली से ज़मीन पर आड़ी-टेढ़ी लकीरें बनाने लगी।

समय के साथ-साथ उसकी बेचैनी बढ़ने लगी। एक बार उसने उड़ती-सी नज़रों से नन्दन की ओर देखा भी और उसे लगा जैसे नन्दन शब्द ढूंढ़ रहा है। ऐसा कुछ कहने के पहले शायद आदमी इसी तरह चुप हो जाता है। वह शब्द ढूंढ़ता है, मन-ही-मन उन्हें दोहराता है, साहस जुटाता है, सामने वाले पर होने वाली प्रतिक्रिया के लिए अपने को तैयार करता है। क्या कहेगा नन्दन ?"

"दिनेश आपसे पाँच साल बड़े हैं न ?"

"हूँ," मन की खीज को दबाते हुए उसने कहा।

"बहुत बातें किया करते हैं वे आपकी।" तो बिन्नी का मन हुआ कि पूछे कि भैया उसके बारे में क्या-क्या बातें करते हैं ?"

"आप पिछले दो सालों से कलकत्ता क्यों नहीं आयीं ?"

"बस, उधर का प्रोग्राम ही नहीं बना।"

"इस बार क्रिसमस में आइए। उन दिनों कलकत्ता बहुत प्लेजेण्ट हो उठता है। देखिए तो, उस शोर-शराबे का भी अपना एक आनन्द होता है। फिर मैं आप लोगों को कतई ऊबने नहीं दूँगा।"

इस आग्रह से बिन्नी कहीं आर्द्र हो उठी। इच्छा हुई खुलकर कह दे नन्दन, मैं बहुत-बहुत ऊबी हुई हूँ, इस जगह से, इस नौकरी से, इस जिन्दगी से। पर वह कुछ नहीं कह पायी, केवल कुछ और सुनने की आशा से नन्दन की ओर देखती रही।

देखते-ही-देखते अँधेरा आसमान में उतर कर सबको धूमिल बनाता हुआ पानी में घुल गया और उसने झील में तैरते हुए पहाड़ों को निगल लिया। तभी एकाएक घाट की सारी बत्तियाँ जल उठीं। और झील में एक

सिरे से दूसरे सिरे तक सुनहरी खम्भे झिलमिलाने लगे।

"बिन्नी जी," उसे लगा जैसे नन्दन का हाथ उसके कन्धे पर आ गया है। उसने चौंककर देखा—नहीं, नन्दन वैसे ही दोनों फैली हुई हथेलियाँ पीछे टिकाए बैठा है। उसने साड़ी का पल्ला खींचकर अपना कन्धा ढक लिया। उसे ऐसा क्यों लगा? नन्दन को क्या एक बार भी खयाल नहीं आया कि यह भी तो एक तरीक़ा हो सकता है।

अभी कुज होता तो?

"आप बुरा न मानें, तो मैं यहाँ थोड़ी देर लेट लूँ।" और बिन्नी कुछ कहती उसके पहले ही बिना उससे पूछे उसने बिन्नी का पर्स उठाया और उसका तकिया बनाकर चित लेट गया।

बिन्नी को हल्की-सी निराशा हुई। क्या वह कुछ देर और बात नहीं कर सकता था? पर साथ ही वह आश्वस्त भी हुई। वह लौट चलने की बात भी तो कह सकता था। नहीं वह लेटकर शायद अपने को साध रहा है। बिन्नी को भी समय दे रहा है। हो सकता है कि इस बार उठकर साफ़-साफ़ ही पूछे। बिन्नी ने ज़रा-सा सिर घुमाकर नन्दन की ओर देखा—छाती पर दोनों हाथों का क्रास बनाये आँखें बन्द किए नन्दन चित लेटा था। एक झटके-से सारा दृश्य बदल गया।

रीगल के सामने के मैदान का ऐसा ही अँधेरा कोना था और ठीक इसी तरह मुँह पर रूमाल डाले कुज लेटा था? मुड़े हुए दोनों घुटनों को बाँहों से घेरकर उस पर गाल टिकाए बिन्नी बैठी थी।

दुविधा के ऐसे ही क्षण उन दोनों के बीच में से भी गुज़र रहे थे। कनॉट प्लेस की सारी चहल-पहल से थकता उसका मन इस बात पर केन्द्रित हो आया था कि कुज क्या कहेगा? बात टूटी भी तो ऐसी जगह थी कि···

"बिन्नी, झगड़ा किया तो तीन साल तक मुड़कर खबर तक नहीं ली। मैंने लिखा कि तुम यदि मुझसे सम्बन्ध नहीं रखना चाहती हो, तो मेरे सारे पत्र लौटा दो और तुमने बिना एक क्षण भी यह सोचे कि मुझ पर

उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी, सारे पत्र लौटा दिए। मैंने भी समझ लिया कि तुमने पत्र नहीं, मेरी सारी भावनाएं, मेरा सारा प्यार मुझे लौटा दिया। उस समय मेरे पास था ही क्या ? बेकार, निठल्ला-सा घूमा करता था···तुमने सोचा होगा कौन लड़की मुझ जैसे व्यक्ति की ज़िन्दगी में आना पसन्द करेगी—बेकारी की मुसीबतों और परेशानियों से भरे वे दिन और ऊपर से तुम्हारा यों कटकर निकल जाना। कितना टूटा-टूटा लगता था उन दिनों मुझे। कितना अकेला हो आया था उन दिनों मैं ! और ऐसे में ही मधु जो आयी तो बस आती ही चली गयी ?"

बिन्नी कुछ नहीं बोली थी। केवल उसकी आँखों से आंसू बहते रहे थे। कुंज उन आँसुओं के सामने जैसे बह-सा आया।

"अच्छा, बिन्नी, मान लो मैं अपनी ज़िन्दगी के इन दो सालों को पोंछ दूं और फिर तुम्हारी ओर हाथ बढ़ाऊँ तो ? पहले की तरह फिर तो छोड़कर नहीं चल दोगी न ? मैं कहीं का भी नहीं रहूँगा।"

"अपनी ही बिन्नी पर तुम्हें विश्वास नहीं ?" भीगे से स्वर से वह केवल इतना ही कह पायी थी। फिर पूछा था, "पर मधु का क्या होगा ?"

"उसे समझाऊँगा, उसे समझाना ही होगा।" कहीं दूर खोया हुआ कुंज बोल रहा था। फिर एकाएक ही फूट पड़ा, "पर क्या समझाऊँगा ? उसका दोष ही क्या है, जो उसे इतनी बड़ी सजा दूं ?"

और वह मुँह पर रूमाल डालकर घास पर चित्त लेट गया था। बिन्नी निःशब्द रोती रही थी। कनॉट प्लेस का सारा माहौल अपनी रफ़्तार से पूरे शोर-शराबे के साथ गुज़र रहा था।

थोड़ी देर बाद ही कुंज झटके से उठा था और उसका हाथ अपने हाथ में लेकर बोला था, "व्ही आर मैरिड बिन्नी व्ही आर मैरिड।"

बिन्नी अवाक-सी उसका मुँह देखने लगी—मानो उन शब्दों का अर्थ समझने की कोशिश कर रही हो। और तब कनॉट प्लेस की सारी लाल-नीली जगमगाती बत्तियाँ उसके चारों ओर सिमट आयी थीं और आसमान के सारे तारे दिप्-दिप् करके उसी वाक्य को दोहराने लगे थे।

पर ठीक एक महीने बाद ही—

वह औंधी लेटकर, रो रही थी—फूट-फूटकर और बिलख-बिलखकर और सुपी गुस्से से बावली हो, हवा में मुट्ठियाँ उछाल-उछालकर चिल्ला रही थी, 'झूठा, नीच, धोखेबाज !'

विवाह की सूचना देते हुए कुंज के पत्र के टुकड़े इधर-उधर छितरे पड़े थे।

"अब चला जाये।"

अपने में ही डूबी विन्नी नन्दन का उठना नहीं जान सकी। पर इस वाक्य ने जैसे उसे कहीं गहरे पानी से उबार लिया। अनायास ही उसके हाथ आँखों पर चले गए, कहीं आँसू तो नहीं आ गए ?

"यहाँ लेटा तो समय का कुछ खयाल ही नहीं रहा, वहाँ खाने पर सब मेरा इन्तजार कर रहे होंगे।" खड़े होकर कमीज और पतलून झाड़ते हुए कहा।

तब विन्नी को खयाल आया कि नन्दन को कुछ कहना था। वह आशा कर रही थी कि नन्दन कुछ कहेगा। उसने बड़ी याचना भरी दृष्टि से देखते हुए कहा, "इन्तजार तो सुषमा भी कर रही होगी।" और अनमनी-सी विन्नी उठी।

"मुझे बहुत-बहुत अफसोस है, क्या करूँ आप मेरी ओर से माफी माँग लीजिए। उनसे तो गुड-बाई भी नहीं हो सकी।

विन्नी घाट पर फैली रोशनी में धीरे-धीरे सरकती दोनों परछाइयों को देखती-देखती आगे बढ़ रही थी। जरा-सा आगे-पीछे होने पर दोनों परछाइयाँ एक-दूसरे में घुल-मिल जातीं।

घाट की अन्तिम बत्ती के नीचे नन्दन ने घड़ी देखी : "आठ बीस।" फिर क्षमा याचना के स्वर में बोला, "आज तो मैं आपको छोड़ते हुए भी नहीं जा सकूँगा। रात हो गयी है आप अकेली···!"

"मेरी चिन्ता मत करिए, मैं चली जाऊँगी खेत पार करके ही तो सड़क मिल जायेगी। शायद कोई ताँगा ही मिल जाये।

दोनों कच्चे रास्ते पर आए, तो नन्दन ने जेब से टार्च निकालकर जला ली, "आपके पास टार्च भी नहीं है? रात का यह रास्ता तो बड़ा ऊबड़-खाबड़ है। न हो तो आप मेरी टार्च ले जाइए।"

"नहीं, नहीं, आप ज़रा भी परेशान न हों। तीन सालों में इस रास्ते से बहुत परिचित हो गयी हूँ। मुझे आदत है।"

और जहाँ दोनों के रास्ते अलग होते थे, नन्दन रुका, "अच्छा विन्नी जी, अब आप कलकत्ते आयेंगी तभी मुलाक़ात होगी। सवेरे तो बहुत जल्दी ही हमको रवाना होना है, मिलने के लिए भी नहीं आ सकूँगा। सुषमा जी को नमस्कार कहिए और मेरा निमन्त्रण उन तक भी पहुँचा दीजिए।" फिर एक क्षण ठहरकर बोला, "धन्यवाद तो क्या दूँ, फिर भी आप लोगों के साथ समय बहुत अच्छा कटा।"

विन्नी चुपचुप बस नन्दन के चेहरे को देखने की कोशिश करती रही।

"अच्छा बा-बाई," और उसने विन्नी का हाथ अपने हाथ में लेकर हल्के-से दबाकर छोड़ दिया।

किसी तरह शब्दों को ठेलकर उसने कहा, "भैया, भाभी को याद करियेगा।"

"ज़रूर-ज़रूर।" और वह मुड़ गया।

विन्नी पेड़ की आड़ में खड़ी होकर उसको देखती रही। अँधेरे में नन्दन की आकृति एक बड़े-से धब्बे में बदल गयी, जो धूमिल और छोटी होते-होते पेड़ों के झुरमुट में अदृश्य हो गयी।

अनमनी-सी विन्नी खेत पार करके सड़क पर आयी। घर अभी यहाँ से भी दूर था।

सड़क के दोनों ओर दूर-दूर तक मैदान फैले थे। सिर के ऊपर साफ़ नीला आकाश तना हुआ था, जिस पर सप्तऋषि मण्डल का प्रश्नवाचक दिप्-दिप् करके चमक रहा था।

माँ आयी और चली गयी। कहते हैं माँ के प्यार और उसकी ममता की कोई बराबरी नहीं कर सकता, पर मैं नहीं जानती माँ का प्यार क्या होता है, उसकी ममता कैसी होती है। मैंने तो बचपन से ही आजी का प्यार पाया है, बाबा का प्यार पाया है, और उसके बाद संसार में मैंने कभी किसी चीज़ की कमी महसूस नहीं की, न पैसे की, न प्यार की। सब लोग ईर्ष्या करें—ऐसी पूर्णता है मेरे जीवन में। जिस दिन से होश सम्हाला उसी दिन से देखती आयी हूँ कि आजी सबसे ज़्यादा ख़्याल घर में मेरा रखती हैं और बाबा सबसे ज़्यादा प्यार मुझे करते हैं। यह तो बाद में मालूम पड़ा कि बाबा-आजी मेरे माँ-बाप नहीं हैं।

धीरे-धीरे, छिपाये रखने के सारे प्रयत्नों के बावजूद, यह सत्य मैं जान गयी कि विधवा होने के बाद माँ किसी के साथ भाग गयी। पिछले चार वर्षों से मैं इस बात को जानती हूँ, पर एक दिन भी मैंने अपनी माँ के बारे में जानने की उत्सुकता प्रकट नहीं की। न कभी यही मेरे मन में आया कि माँ कैसी होगी—कहाँ होगी? बाबा को बेटी के इस कुकृत्य ने बहुत खोखला और चिड़चिड़ा बना दिया। कौन जाने उनके इस दिल के दौरे के पीछे भी यही ठेस हो।

लेकिन कल से मैं भी महसूस कर रही हूँ कि एक भारी परिवर्तन मुझ में हो गया है। कितना अच्छा होता कि कल से लेकर आज तक जो कुछ हुआ वह अनहुआ हो जाता।

आज माँ को देखकर लगा—मेरी शक्ल माँ से कितनी मिलती-जुलती है। मुझे यदि कोई नहीं बताता तब भी शायद मैं पहचान लेती कि यह मेरी माँ हैं। आज समझ रही हूँ कि बाबा मेरी साल-गिरह के दिन रोये थे। उस दिन मैंने आजी के लाख मना करने पर भी एक ऐसे बक्स में से साड़ी निकाल कर पहनी थी जिसे आजी कभी नहीं खोलती थीं। आजी जितना मना करती गयीं, मैं भी उतनी ही ज़िद करती गयी और उसे पहन कर ही मानी। सारे दिन की धूम-धाम के बाद, रात में जब बाबा के पाँव छूने गयी तो वे मुझे ऐसे घूर-घूर कर देखने लगे मानो पहले कभी देखा ही नहीं था। मैंने अपने सिर पर उनके हाथ का कंपन महसूस किया। उठी तो कमरे के जगमगाते प्रकाश में मैंने देखा था कि सफ़ेद भौंहों के नीचे झुर्रियों की कटोरियों में बन्द उनकी निस्तेज आँखों में जल की बूँदें चमक रही हैं। मेरी साल-गिरह के दिन आँसू ! आज सोचती हूँ—क्या उस दिन मुझे देखकर बाबा को माँ का ख़याल नहीं आया होगा ?

टन…टन करके घड़ी के घंटे बजे तो एकाएक ही मुझे ऐसा अहसास हुआ कि घर में मौत का सन्नाटा छाया हुआ है। जाने कब से इस ख़ामोशी के बीच में पड़ी हूँ मैं। एकाएक ही इच्छा हुई कि बाबा इस सन्नाटे को चीर कर चीखना-चिल्लाना शुरू कर दें—झनझना कर घर की चीजें फेंकने लगें। सच, इस सन्नाटे में तो दिल डूबता जा रहा है। और मुझे ही ऐसा क्या हो गया है ? मैं ही क्यों नहीं दौड़कर बाबा के कमरे में चली जाती हूँ ? मुझे ऐसा क्यों लग रहा है कि अपराध माँ का नहीं, मेरा था ? लगता है, जो अब तक नहीं हुआ वह अब होकर रहेगा। कल से आज तक घर के हर व्यक्ति ने अपनी सहजता ही खो दी है। यह घटना क्या ज़िन्दगी भर छाया की तरह मेरे पीछे लगी रहेगी ? क्या इन दो घंटों में एक बार भी यह बात मेरे मन में नहीं आयी कि इस सारे ऐश्वर्य और असीम लाड़-प्यार के बीच भी मैं कितनी तुच्छ हूँ…कितनी हीन हूँ ? मैं भागी हुई स्त्री की सन्तान हूँ ? नहीं…नहीं…कोई भी ऐसी भावना मेरे मन में नहीं है।

बाबा का क्रोध—सारा शहर थर्राता है उनके क्रोध से। फिर जिसको अपना सर्वस्व दो, वही छल कर जाय तो मन किस बुरी तरह तिलमिला जाता है उसकी कल्पना सहज ही में की जा सकती है। मन होता है कि मारना और उसका सिर फोड़ दो।

कल—कितनी खुश-खुश आ रही थी मैं कॉलेज से। पर घर में घुसी तो विचित्र-सी खामोशी छायी हुई लगी और होंठों में गुनगुनाते गीत की कड़ी मानो हो मेरे होंठों में अटकी रह गयी। सामने ही बूढ़ी नौकरानी चन्दा मिली। मैंने पूछा, "क्या बात है चन्दा ?" उसने बिना जवाब दिये मेरे हाथ से किताबें छीन ली और चली गयी। लगा जैसे कुछ कहते-कहते रुक गई। पर मैंने देखा उसकी आँखों में आँसू थे। मैं दौड़कर बाबा के कमरे में गई। आँखों पर हाथ रखे चुपचाप लेटे थे और पास में बैठी भाजी बुरी तरह रो रही थी।

मेरे पैर वहीं बँध गए—तो क्या बाबा को फिर से दिल का दौरा पड़ गया ? तीन महीने पहले भी तो सब कुछ ऐसे ही हुआ था। बाबा ऐसे ही पड़े थे। भाजी पास में बैठी ऐसी ही रो रही थी। और बाहर नौकर-चाकर रो रहे थे। किसी को बाबा के बचने की उम्मीद नहीं थी, पर बाबा बच गए। बाबा से लिपट जाने के लिए मैं पागलों-सी दौड़ी तो भाजी ने इशारे से वहीं रोक दिया। "कैसे हैं बाबा ? क्या हुआ है इनको ?" घबराहट और आशंका से मेरा गला रुँध-सा गया। "कुछ नहीं हुआ, तू यहाँ से बाहर चली जा, अभी।"

याद नहीं पड़ता ऐसा रूखा जवाब मैंने कभी भाजी के मुँह से सुना हो। पर स्वर में जाने ऐसा क्या था कि मैं लौट पड़ी। तभी बाबा के ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने की आवाज आयी। लेकिन अब मेरी हिम्मत नहीं थी कि उस कमरे में लौट कर जाऊँ। अपने कमरे में बैठा रहना तो और भी मेरे लिए असह्य हो गया। लगा जैसे कुछ बहुत असाधारण और अशुभ

घर में हो चुका है। बरामदे वाले दरवाज़े से घुस कर मैं चुपचाप बाबा के कमरे से लगे पूजा-घर में चली गयी। "वह नहीं आ सकती···इस घर में पाँव भी नहीं रख सकती। सच कहता हूँ, वह आयी तो मैं उसकी टाँगें तोड़ दूँगा।" आजी के सिसकने और हिचकियाँ लेने की आवाज़ आ रही थी। वे शायद बराबर रो रही थीं। "तुम लाख रोओ, रोते-रोते मर भी जाओ तब भी वह इस घर में नहीं घुस सकती। उसने इस शहर में घुसने की हिम्मत ही कैसे की? तुम कहला दो कि वह शहर छोड़ कर चली जाय। मेरा धरम-करम, सुख-चैन सब मिट्टी में मिला दिया।···"

मैं नहीं समझ पायी कि किसको लेकर बाबा इतने नाराज़ हो रहे हैं। इतनी दूर रह कर भी बाबा के गुस्से से मेरा बदन थर-थर काँपने लगा। अम्मा की सिसकियाँ वैसे ही सुनायी दे रही थीं। "प्रमीला से मिलना तो दूर, मैं उसकी छाया तक उस पर नहीं पड़ने दूँगा। उस दिन कहाँ गयी थी माँ की ममता जब वह उस दूध-पीती बच्ची को छोड़कर सारे कुल की इज्ज़त पर पानी फेर कर चली गयी थी?" पलक मारते ही सारी बात मेरी समझ में आ गयी। मेरी माँ आयी है। वह शायद मुझसे मिलना चाहती है। क्यों आयी है माँ? मुझे किसी से नहीं मिलना। मैं नहीं जानती कि कौन है माँ? बाबा को दुखी करके मैं कुछ भी नहीं कर सकती···करना चाहती भी नहीं···।

संध्या तक एक बार भी मैं अपने कमरे से नहीं निकली। मेरे कमरे की खिड़की बाहर बगीचे में खुलती है। देखा, धीरे-धीरे, बाबा चले आ रहे हैं। पीछे-पीछे आजी हैं। दोनों कुर्सियों पर बैठ गये। इस समय तक शायद बाबा शान्त हो चुके थे। लगता है आजी ने शायद माँ को मना करवा दिया। कहाँ ठहरी हैं माँ? किसके साथ उन्होंने यहाँ संदेश भेजा है? अब वह नहीं आयेंगी, यह सोच कर मन कुछ आश्वस्त हुआ। पर तभी एक दुर्दमनीय चाह उठी कि देखूँ तो सही कि माँ कौन है? कैसी है?··· नहीं···नहीं, ऐसी बात भी मुझे अब नहीं सोचनी चाहिए।

बाबा मौन थे। आजी मौन थीं। दूर क्यारियों में माली घा

था। कमरे के भीतर और अधिक घुटन बढ़ गयी थी। मेरा बहुत ही मन हुआ कि मैं भी बाहर बगीचे में उन लोगों के साथ जा बैठूँ। पर अपनी जगह से हिला भी नहीं गया। वहीं खड़ी-खड़ी मैं शून्य नज़रों से बाहर देखती रही।

तभी एक तांगा फाटक से घुसा और सीधे पीछे वाले दरवाज़े की ओर चला गया, मानो वह घर के नक्शे से परिचित हो। मैंने अच्छी तरह देखा कि चादर ओढ़े एक महिला उस पर बैठी थी। पर उसकी सूरत मैं नहीं देख पायी। हड़बड़ा कर भाजी उठीं। मैं समझ गयी कि यह आनेवाली महिला ही मेरी माँ है। तो, क्या भाजी ने उन्हें मना नहीं करवाया? क्या मना करवाने के बावजूद भी वे आ गयीं? कोई दो मिनट बाद ही बाबा उठे। उनके पाँव लड़खड़ा रहे थे। शायद वह गुस्से या उत्तेजना से काँप रहे थे। कुर्सी की बगल में रखे हुक्के को लात से एक ओर लुढ़का कर दो-चार गमले तहस-नहस कर दिये। मुझे लगा कि अब कुछ ऐसा होगा कि जो आज तक नहीं हुआ। जिसकी कल्पना भी बड़ी भयावनी है। मैं साँस रोक कर उस क्षण की प्रतीक्षा करने लगी। बस, अभी-अभी बाबा बुरी तरह लताड़ते-फटकारते माँ को बाहर निकाल देंगे। वे मुझे देखने की इच्छा प्रकट करेंगी तो उन्हें घसीट कर बाहर कर दिया जायेगा। नहीं यह सब नहीं ही होना चाहिए। मेरी आँखों से आँसू निकलने लगे। कब तक उन विचित्र आशंकाओं से आतंकित-सी मैं रोती रही, मुझे नहीं मालूम। होश तब आया जब देखा कि वही तांगा लौट रहा है।

पहली बार अपनी माँ के दुख, माँ की मजबूरी ने मेरे मन को मथ दिया। मैं उठी, दबे पाँव फिर उसी पूजा-घर में जाकर खड़ी हो गयी। कान लगा कर सुनने लगी कि भाजी-बाबा में क्या बातें हो रही हैं, अभी क्या होकर चुका है? एक विचित्र-सी भावना मेरे मन में आयी—यह छिप-छिप कर सुनना, क्या स्वभाव की विकृति नहीं•••किसी दुष्प्रभाव के कारण ही तो मैं ऐसा नहीं कर रही? क्या यह माँ के अपराध का प्रभाव है? बिना मिले, मात्र उसके आने से मुझ में यह 'पाप' आ गया? मन

हुआ लौट जाऊं, पर मेरे पांव जैसे वहीं जम गये थे। बाबा के कमरे में सभी कुछ शांत था। मानो वहां कोई था ही नहीं। आजी क्या बाबा के पास लौटी ही नहीं? शायद वे डर रही होंगी कि मां को आना नहीं चाहिए था। मां के जाने से लगा था कि संकट टल गया। पर इस छोटे-से पूजा-घर में खड़े हो कर लग रहा था कि असली संकट तो अब है। मैंने रक्षार्थ ईश्वर के आगे हाथ जोड़ दिये।

"निकल जाओ, तुम मेरे कमरे से···" तभी बाबा की क्रोध-भरी आवाज़ से मैं पत्ते की तरह थर्रा उठी—"तुमने उसे आने ही क्यों दिया? इस घर में तुमने उसे घुसने ही क्यों दिया? क्यों नहीं उसे घसीट कर बाहर कर दिया? और उनका स्वर आजी की हिचकियों में डूब गया। आजी फूट-फूट कर रो रही थीं। आँसुओं से भीगे, रुँधे गले से टूट-टूट कर शब्द उनके मुँह से निकल रहे थे, "मेरी बात तो सुन लो···फिर जो तुम्हारी समझ में आये करना···वह तो यों ही बहुत दुखी है···उसके ससुराल वालों ने उसका सौदा कर दिया और उड़ा दिया कि भाग गयी··· भाग गयी···। हाय राम, उन दुष्टों को नरक में भी जगह न मिले···मेरी बेटी की जिन्दगी बरबाद कर डाली। कितने सालों से वह यह दुख भोग रही है और तुम हो कि···"

मैं धम्-से ज़मीन पर बैठ गयी। नहीं जानती ऐसा क्यों हुआ, पर मुझसे खड़ा नहीं रहा गया···"सब झूठ है···फ़रेब और बहानेबाज़ी है··· मैं किसी की बातों में नहीं आने वाला···"

"दाने-दाने को मुहताज कर दिया मेरी बच्ची को···देखते तो कलेजा मुँह को आ जाता···कह रही थी कि किसी ने बता दिया कि प्रमीला बड़े दुख में है। सो सबसे लड़-झगड़ कर उसे देखने चली आयी।

"कुछ नहीं···उन लोगों ने कुछ लेने-लिवाने के लिए भेजा होगा। कान खोल कर सुन लो, मैं उसे फूटी कौड़ी नहीं दूंगा। प्रमीला पर उसकी छाया भी नहीं पड़ने दूँगा···"और झन्न से कोई चीज़ गिरी। शायद पीतल का फूलदान होगा। देर तक उसकी झन्नाहट कमरे में गूंजती रही।

"एक बार अगर वह प्रमीला को देख ही लेगी तो क्या हो जायेगा ··? वह माँ है···तुम उसका दुख क्यों नहीं समझते ?" बहुत ही याचना-भरा आँसुओं में डूबा भाजी का स्वर सुनायी दिया। "तुम निकल जाओ, इसी समय कमरे से निकल जाओ। मैं तुम्हारी सूरत भी नहीं देखना चाहता ·· सब मेरे दुश्मन हैं इस घर में···दाने-दाने को मुहताज है तो भीख माँगे··· जैसा किया उसका वैसा ही फल मिलना था। मैं उसे इस घर में नहीं आने दूँगा···कभी नहीं आने दूँगा·· तुमने उसे आने ही क्यों दिया ?" भाजी की हिचकियाँ सुनायी दे रही थीं। उन्होंने कुछ कहा, लेकिन मैं समझ नहीं पायी। 'जाओ ! ! ' सारी शक्ति लगा कर बाबा चीखे और उनकी आवाज़ फट गयी। ऐसा लगा कि भाजी उठ कर चली गयीं। मैं भी निर्जीव क़दमों से अपने कमरे में लौट आयी और फूट-फूट कर रोने लगी। नहीं जानती माँ का दुख मुझे रुला रहा था या बाबा का क्रोध। माँ का सौदा हुआ है··· वह बहुत दुखी है ··कैसी होगी मेरी माँ ··मेरी माँ ?···

उस रात शायद कोई नहीं सोया। भाजी सारी रात अपने कमरे में पड़ी रोती रहीं। बाबा के चीखने-चिल्लाने की आवाज़ तो नहीं आयी, पर कभी-कभी कोई चीज़ झनझना कर गिरती और घर का सन्नाटा एक-बारगी ही काँप कर रह जाता।

दूसरे दिन बिना चाय पिये ही मैं कॉलिज चली गयी।

कॉलिज से लौटी तो हॉल में घुसते ही देखा, ज़मीन पर तसवीरों, फूलदानों रेकॉर्डों के टुकड़े पड़े हैं। अन्दर चीनी के प्लेट-प्यालों के टुकड़े मिले। पर ऐसा कोई नहीं मिला जिससे दो शब्द पूछ सकूँ, हालाँकि ये टूटे-फूटे बर्तन ही सब कुछ बोल रहे थे। तो आखिर आज भी माँ आयीं, और जो कुछ कल नहीं हुआ वह आज हो ही गया। वह तनाव, वह घुटन तो खत्म हो गयी। तभी खयाल आया कि कैसे निकाला होगा माँ को ? अपने बचाव के लिए माँ ने भी कुछ कहा होगा या यों ही चुपचाप चली गयी होंगी ? पर यदि वे मुझे ही देखना चाहती थीं तो सवेरे क्यों आयीं ? क्या भाजी ने उन्हें नहीं बताया कि सवेरे मैं कॉलिज जाती हूँ ? मेरी याद लेकर

कहीं वह सचमुच पैसा लेने ही तो नहीं बुलाया। और आज भी ऐसे समय आयी जब मैं नहीं थी। एक अव्यक्त घृणा से मेरा तन-मन सिहर उठा।

चंदा खाना लेकर आयी तो थाली लेते हुए पूछा, "माँ क्या आज भी आयी थीं, चंदा ?"

"नहीं, मालिक तो नाहक ही नाराज हो रहे हैं। बहूजी बेचारी तो रो-रो कर आधी हो गयीं। घर की आधी चीज़ें तो मालिक ने तोड़-फोड़ डालीं, अब उन्हें कौन समझाये...? जिस बात को बीते इतने बरस हो गये उसे लेकर यह सब करना क्या अच्छा लगता है ?" इच्छा हुई चन्दा से बहुत कुछ पूछूँ। यह तो उस समय भी थी जब माँ मुझे छोड़कर चली गयी थी। पर एक शब्द भी मुँह से नहीं निकला। न खाना ही खाया गया।

घोड़े के घुँघरुओं की आवाज़ सुनकर मैंने बाहर झाँका। लाल बजरी की आधी सड़क पार करके ताँगा फिर भीतर वाले दरवाजे की ओर जा रहा था। उस पर वही महिला बैठी थी। मुझे तो जैसे साँप सूँघ गया। मैं समझ गयी—आज माँ मुझे ही देखने आयी हैं।

"बिटिया चलो, बहूजी तुम्हें बुलाती हैं..." चंदा की आवाज़ से मैं चौंक पड़ी। मैंने उससे कहा, "ज़रा धीरे बोलो चंदा।" और बिना एक क्षण की देरी किये दबे पाँव उसके पीछे-पीछे चल पड़ी। मानो मैं इस तरह बुलाये जाने की मन ही मन प्रतीक्षा कर ही रही थी। मैं चाहती थी, जितनी जल्दी हो सके—यह देखना-दिखाना खत्म हो और माँ बाबा को पता लगने से पहले ही चली जायें।

भंडार में जाकर देखा—ज़मीन पर बिछी चटाई पर माँ और आजी आमने-सामने बैठी हैं, और दोनों ही रो रही हैं। मैं घुसी तो माँ एकटक मुझे ही देखती रहीं। मानो उन्हें अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हो रहा हो कि मैं इतनी बड़ी हो गई हूँ। फिर सहसा उन्होंने मुझे खींच कर अपने सीने से लगा लिया। इस प्रकार के अप्रत्याशित व्यवहार से मैं अस्त-व्यस्त हो उठी। तभी मैंने बाबा के खड़ाऊँ की खट-खट सुनी तो लगा जैसे शरीर

का सारा खून जम गया। मैं झटके से छिटक कर इस तरह अलग आ खड़ी हुई मानो कोई अपराध करते हुए रंगे हाथों पकड़ ली गई हूँ। झटपट वहाँ से खिसक जाने की ताक में ही थी कि देखा—बाबा सामने आ खड़े हुए हैं। अपने आप ही मेरी आँखें मुँद गयीं और ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की नीचे अटकी रह गयी। जानती थी अब क्या होने वाला है और उसे देखने-सुनने की सामर्थ्य मुझ में नहीं थी। कल तो बाबा जाने क्या सोच कर जैसे-तैसे गुस्सा पी गये थे, पर आज···?

"सुनती हो ? लो, यह चेक इसे दे दो और कह दो रुपये-पैसे की तकलीफ न देखे···" जैसे कहीं बहुत दूर से बोल रहे हों। इस तरह बाबा ने जैसे-तैसे अपनी बात पूरी की और गला रुँध जाने के कारण बिना अपना वाक्य पूरा किये लौट पड़े।

साँस से साँस तो आयी, आँखें खोलीं। विश्वास नहीं हो रहा था। सामने नीला चेक पड़ा था·· एक की संख्या पर चार बिन्दियाँ थीं।

मैं कुछ समझूँ-समझूँ कि तभी माँ उठीं। मेरा सिर छाती से चिपका कर बालों पर हाथ फेरा, और मुट्ठी में बंद, पसीजा और मिसामिसाया-सा पाँच रुपये का नोट मेरे हाथ में पकड़ा कर झटके से बाहर चली गयीं।

और उस क्षण जब मेरी स्तब्ध और लुप्त चेतना लौटी तो मेरी आँखें भर आयीं। मैंने देखा, मेरे सामने दस हज़ार का चेक पड़ा था और हाथ में पाँच का नोट···आँसू भरी आँखों के पार मुझे लगा जैसे दोनों के रूप अस्पष्ट से अस्पष्टतर होते चले जा रहे हैं · धीरे···धीरे। उस चेक और नोट का रूप-रंग, आकार का अंतर घुल कर एक हो गया···यहाँ तक कि संख्याएँ भी अनपहचानी हो उठीं और रह गये केवल मेरे गालों से ढुलकते आँसू···बाबा की लौटती खट-खट, और पत्थर बनी बैठी आजी···

बाँहों का घेरा

कहानी समाप्त करके कम्मो ने पत्रिका बन्द कर दी। ऐसी रोमांटिक-कहानी तो उसने अर्से से नहीं पढ़ी थी, पर फिर भी उसे लगा जैसे उसके मन का अवसाद गहरा हो आया है, एक अजीब-सा शूल चुभने लगा।

आठ बज गए, मित्तल अभी तक नहीं लौटा। सोचा फ़ोन करके पूछ लें कि कब तक आएँगे। माँजी शोन को लेकर सो चुकी थीं। कम्मो ने बड़े ही शिथिल हाथों से नम्बर मिलाया। बड़ी व्यस्त और घबराहट-भरी आवाज़ सुनाई दी—"ओह, तुम! अभी ठहरो—फिर ज़रा अस्पष्ट-सा स्वर सुनाई दिया—पाँच सौ गाँठ खरीद लो—पाँच सौ। वह जानती है कि मित्तल दोनों कानों पर फ़ोन रखकर बात करता है। "हाँ सुनो भई, रात को मैं नहीं आ सकूँगा। मार्केट बेहद डाँवाडोल हो रहा है, पल-पल में ठके टूट रहे हैं—हल्लो—साढ़े तीन का भाव···"

कम्मो ने चोंगा पटक दिया और नौकर से कह दिया कि खाना उठाकर रख दे, वे लोग नहीं खाएँगे। मन का क्षोभ इतना अधिक बढ़ गया था कि उसे पूरी तरह महसूस करने की सामर्थ्य भी उसमें नहीं रही थी। भाव-ताव, खरीदो-बेचो, व्यस्तता—अत्यधिक व्यस्तता—उसने खिड़की का पर्दा एक ओर को सरका दिया। सींखचों के पार आसमान में पूरा का पूरा चाँद दिखाई दिया। हल्के बादलों की परत के नीचे चाँद बड़ा निस्तेज सा लग रहा था। सींखचों के पार का चाँद कम्मो को बन्दी की तरह दिखाई दे रहा था, इस क़ैद ने ही शायद उसकी चमक हर ली। पर्दा वापस खींचकर वह छत पर चली गई। मुंडेर पर खड़े होकर वह कभी आसमान

को देखती तो अभी सड़क थी। सड़क पर कोलाहल था, पर वह कोलाहल भी उसके मन की शून्यता को नहीं भर पा रहा था।

बादलों का आवरण हट गया तो छत पर चाँदनी छिटक पड़ी। पूरा चाँद आसमान में मुस्करा रहा था। कम्मो को पूरा चाँद कभी अच्छा नहीं लगा। पता नहीं लोगों को इसमें क्या सौंदर्य दिखाई देता है। जो अपने आप में ही पूर्ण है, जिसे किसी की अपेक्षा नहीं, जितना संतुष्ट है वह भी, और जहाँ रस नहीं वहाँ सौंदर्य कैसा? दूज का चाँद—पतली अर्धचन्द्राकार रेखा—मानो किसी को कस लेने के लिए बाँहों का घेरा बनाकर बैठा हो।

कहानी की कुछ पंक्तियाँ उसके मस्तिष्क में कौंध गईं—"कोहरे भरी चाँदनी एक विचित्र कुहर का आभास देती थी। लम्बे-लम्बे वृक्षों की टहनियों को चीरकर छनते हुए चाँदनी के गोरखधंधे के बीच वह बैठा था, विकल, प्रतीक्षातुर। तभी श्वेत वस्त्रों में लिपटी, खुले केशों की सुरभित लटें लहराती हुई वानी आई—और फिर दोनों यों बँध गए मानो युगों से बिछुड़ी-भटकती दो आत्माएँ एक हो उठी हों।"

मन की खिन्नता और शिथिलता के बावजूद कम्मो ने शरीर में एक अजीब-सा तनाव महसूस किया। जाने क्या था जो ऊपर से नीचे तक सनसना रहा था। वह नीचे उतर आई थी। पंखा खोलकर औंधी लेट गई। तकिये को उसने कसकर अपनी बाँहों में भर लिया।

धीरे-धीरे मन का क्षोभ ग्लानि में बदलने लगा। वह क्यों यह सब सोचती है? वह विवाहिता है, दो वर्ष के बच्चे की माँ है। यह सब सोचना, यह सब चाहना उसके लिए अनुचित है, पाप है। वह जब पढ़ती थी, डायरी लिखा करती थी। विवाह के बाद भी कुछ महीनों तक यह क्रम चला, पर फिर उसने बंद कर दिया। जैसी बातें उसके दिमाग में उठती थीं, और आज भी उठती हैं, वह सब क्या लिखी जा सकती हैं? लिखना उसने छोड़ दिया, पर बातों का उठना कहाँ छूटा, बल्कि अकेलेपन ने, जीवन के इस रवैये ने, उन्हें और अधिक भड़का दिया। ये अनभिव्यक्त भावनाएँ,

इच्छाएँ अब रात-दिन उसे मथा करती हैं। किसी को बाँहों में भरकर अपने को उसमें लय कर देने की और उसका सम्पूर्ण पा लेने की अतृप्त दुर्दमनीय चाह, एक अभिशाप की तरह उसके मन पर छाई रहती है।

सालों पीछे छूटा हुआ उसका बचपन उसे याद आने लगा। वह शायद पांच वर्ष की रही होगी। उसकी सौतेली माँ एक साल की टुन्नी को सारे दिन छाती से लगाये-लगाये घूमती। उसकी हर बात, हर अदा पर निछावर होकर उसे गले से लगा लेती और बाँहों में भर चुम्बनों की बौछार कर देती। कम्मो ने अबोध मन में बड़ी लालसा उठती कि माँ ऐसे ही उसे भी प्यार करे। वह सकुचाती-सी माँ के पास जा खड़ी होती। माँ कभी प्यार से उसके गाल पर हल्की-सी चपत लगा देती, या बाल सहला देती—बस। पिताजी आते तो वे भी टुन्नी को ही प्यार करते। सीने से लगाकर उसे कोई प्यार नहीं करता था। शायद वह अब बड़ी हो गई थी। पर कभी तो वह भी छोटी रही होगी। तब शायद उसे भी किसी ने ऐसे ही प्यार किया होगा—उसके गालों पर असंख्य चुम्बन बरसाये होंगे। पर उसे ऐसा कुछ भी तो याद नहीं आता! कितना अच्छा होता, उस सबकी याद उसे होती और वह उस याद के सहारे ही कुछ संतोष पा लेती।

स्मृति-पटल पर फिर एक चेहरा उभरता है। मोटे फ्रेम का चश्मा, रूखे बिखरे बाल, दो भावपूर्ण सतेज आँखें जो हर समय उसे देख-देखकर पुलकित रहा करती थी उसे उसकी उम्र, और सोई भावनाओं के जाग उठने का एहसास कराती रहतीं।

नोट्स और पुस्तकों के आदान-प्रदान को सूत्र बनाकर शैलेन उसके निकट आया था। आरम्भ में औपचारिकता में लिपटी चंद बातें, धीरे-धीरे औपचारिकता का आवरण हटा। मन की सारी मधुर भावनाएँ अरोक वेग की तरह फूट पड़ीं। अठारह वर्ष की उम्र के प्यार की अछूती-कुंआरी भावनाएँ दस-दस पृष्ठों के पत्र में भी बाँधे न बँधती। जितना रस ढलता लगता, उससे दुगना मन में ही रह जाता! रात में पत्र किताब के बीच रखकर पढ़ना, बार-बार पढ़ना और फिर उन्हीं कल्पनाओं में विभोर हो

जाना।

"कम्मो, तुम्हारे बिना मैं कितना अकेला हूँ, असहाय हूँ। हर क्षण उस दिन की प्रतीक्षा करता हूँ जब तुम्हारी बाँहों के घेरे में बँधकर मेरे सारे संताप दूर हो जायेंगे, जब मैं अपने अस्तित्व को मिटाकर तुममें ही लीन हो जाऊँगा, फिर हम दो न रहेंगे कम्मो—एक हो जाएँगे, बिल्कुल एक। और तब कम्मो लेटे-लेटे ही महसूस करती कि उसका सम्पूर्ण अस्तित्व ही जैसे गलकर बहा जा रहा है—जैसे वह हाड़-मास की ठोस वस्तु न रहकर तरल हो गई है, और किसी में मिलती जा रही है। उसका सारा शरीर झन-झनाता रहता, नसों में बहता रक्त खौलने लगता, फिर भी शरीर और मन पर जैसे चंदन का लेप होता रहता। इन दिनों जैसी असहाय जलन उसने कभी महसूस नहीं की थी। तब शायद प्रतीक्षा थी, एक आशा थी और अब—?

कितना अर्सा हो गया इस सबको। शैलेन का चेहरा धुँधला होते-होते घुल-पुँछ-सा ही गया, पर वह अनुभूति आज भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। कच्चे मन में उठी हुई वे कामनाएँ अतृप्त रहकर आज भी उतनी ही बनी हुई हैं। लाख प्रयत्न करके भी वह उन्हें दबा नहीं पाती—वे ही निरंतर उसे दबाती रहती हैं, और वह है कि बड़ी असहाय-सी, बेबस-सी टीसती रहती है, कराहती रहती है।

घड़ी ने टन्-टन् करके दस बजा दिये। कम्मो ने करवट बदली तो देखा चाँदनी काफी चटक हो चली थी। उसका चौंधा उसे अच्छा भी नहीं लगा, उठकर उसने खिड़की बन्द कर दी। सुराही से पानी पिया, पर मन की जलन शान्त हुई, न शरीर का तनाव। हारी-थकी-सी दोनों हथेलियों में सिर थामकर वह कुर्सी पर ही बैठ गई।

वह क्यों यह सब सोचती है? कितनी घिनौनी बातें हैं ये सब! शायद ही कोई नारी इस तरह सोचती होगी। अठारह वर्ष का वह प्यार एक आवेग ही तो था। घर में मनक पड़ते ही उसकी शादी तय कर दी गई थी और थोड़े आँसुओं में उसका सारा प्यार बह गया था। शैलेन की

जगह एक चेहरे के इर्द-गिर्द उसकी सारी भावनाएँ केन्द्रित हो गई थीं। शादी वाले दिन उसने वे सारे पत्र फाड़ फेंके थे, पर अब उन पत्रों की याद उसे जब तब फाड़ती रहती है, बेधती रहती है। उसे आश्चर्य तो इस बात पर होता कि उसे शैलेन की याद नहीं आती, बस केवल पत्रों की पंक्तियाँ, उन पंक्तियों से झांकती हुई भावना और उन भावनाओं को साकार करने वाले चित्र उभरते हैं—कोहरे भरी चाँदनी, प्रतीक्षातुर आँखें, आलिंगना-तुर बाँहें—और वह घुली रहती है। दोहरी धूल के नीचे उसका मन सिसकता रहता है—अतृप्ति की धूल और अपराध-सी पाप की भावना की धूल।

कम्मो सवेरे उठी तो किसी तरह याद नहीं कर पा रही थी कि वह कुर्सी से कब बिस्तर पर आ गई। उसे पता नहीं कब मित्तल आकर सो गया। जैसे ही कम्मो बैठी, उसने सुना—"जाग गई?" मित्तल शायद सो नहीं रहा था। "रात तो गज़ब हो गया। कइयों के दिवाले निकल गये, कई लखपति बन गये।"

कम्मो ने न किसी तरह की जिज्ञासा दिखाई, न कौतूहल! "अपने तो समझ लो दस हज़ार बन ही गये, बस एक ही चिंता है, दो को बहुत बड़ा घाटा हुआ है और उनका सौदा अपनी मार्फ़त था, वे कहीं रुपया न दें तो? ऐसे में अक्सर लोग दिवाला निकाल देते हैं। देखो!" अँगड़ाई लेकर मित्तल उठ बैठा। कम्मो सौदा-वौदा, भाव-ताव कुछ नहीं समझती है। जब-जब मित्तल ने उसे समझाने की कोशिश की, तो उसे बेहद ऊब लगी। मित्तल को कम्मो से शिकायत है कि कम्मो उसके काम में दिल-चस्पी नहीं लेती। आजकल तो औरतें शेयर-मार्केट में धड़ल्ले से बिज़नेस करती हैं। कम्मो यदि दिलचस्पी ले तो वह अपना बिज़नेस और बढ़ा सकता है, पर उसने कभी दिलचस्पी नहीं ही ली। कौन मित्तल ही उसकी भावनाओं को समझता है, उसके दर्द को समझता है। "चाय जल्दी ही बनवा दो, अभी ही निकलना पड़ेगा।" और तौलिया लेकर मित्तल फुर्ती से बाथ-रूम में घुस गया। दस हज़ार के फ़ायदे ने रतजगे की थकान को

पूरी तरह सोच लिया था।

मित्तल चला गया, माँजी ठाकुरद्वारे में पूजा करने घुस गईं तो कम्मो अखबार लेने बाहर बैठक में आई। मुनीमजी शेव कर रहे थे और शोन को बता रहे थे—"हाँ तो बेटा हम लोग भी चाँद में चलेंगे, वहाँ अपना एक मकान बनवा लेंगे, एक गाडी खरीद लेंगे और···"

कम्मो ने होंठ काट लिया। सारी दुनिया के मनहूस इस घर मे ही आकर बस गये हैं। चाँद में भी अपना मकान बनाएँगे, फिर वहाँ भी रहा करेंगे।

पता नही क्यो, चाँद मे जाने की बात कम्मो को कभी अच्छी नही लगती। न जानने का भी तो एक आकर्षण होता है चाँद ! चाँद को जान लिया मानो चाँद का सारा रोमास ही समाप्त कर दिया। उसे लगा थोड़े ही दिनो में दुनिया का सारा रस सूख जायेगा। कितनी ही बार उसे ऐसा लगता था कि एक दिन वह उठेगी तो देखेगी कि घड़े का पानी, गिलास का दूध सब जम गया है। घर मे कही तरलता नही है, सब कुछ ठोस हो गया है, एकदम जड़। क्यो नहीं हो जाता ऐसा ? जिस दिन ऐसा हो जायेगा, वह भी जड हो जायेगी तभी शायद इस यातना से भी मुक्ति मिलेगी।

पोस्टमैन दरवाज़े में घुसा तो एक पैर पैंडल पर और एक हवा में झुलाता हुआ पोर्टिको तक चला आया। कम्मो उठकर पोर्टिको में आ गई। दो पत्र थे, एक उसके नाम भी था। वह लिखाई ही पहचान गई—शम्मी का पत्र है। खोला तो देखा शम्मी के साथ ही भाभी जी ने भी कुछ पंक्तियाँ लिख रखी थी।

"कम्मो,

शम्मी की शादी नवम्बर मे तय हो गई है। अभी दशहरे की छुट्टियाँ हैं सो इसे तुम्हारे पास भेज रही हूँ। इसे वहाँ से कपड़े खरीदवा देना और भी घर का जरूरी सामान दिलवा देना। सारा काम तुम पर छोड़ती हूँ—

तुम्हारी भाभी"

अगले महीने ही शम्मी की शादी है। शम्मी का आना कम्मो को अच्छा लगा। यों तीन साल से उसे नहीं देखा, पर जब देखा था उसे शम्मी बहुत पसन्द आई थी, बेहद शौक़ीन तबीयत की दिल-खुश लड़की। सचमुच दो-तीन दिन से मन पर जो असह्य-सा बोझ वह महसूस कर रही है, उसे शम्मी जैसी लड़की ही शायद दूर कर सके। दूर तो क्या कर सकेगी, पर हां, कुछ समय के लिए भूल ज़रूर जाएगी, वर्ना उसका बोझ—

शम्मी आई तो कम्मो को लगा जैसे उन्नीस साल की उम्र में होने वाले विवाह ने उसके गालों में गुलाबी कूचियां फेर दी हैं। आँखें हैं कि कहीं थिर ही नहीं सकतीं, और होंठों से अकारण ही हँसी फूट-फूट पड़ती है। कम्मो को शम्मी का यह रूप बहुत अच्छा लगा। बड़े दुलार से बोली—

"तू तो एकदम बदल ही गई शम्मी।"

"कहाँ? वैसी ही तो हूँ।"—और शम्मी हंस दी।

खाने बैठे तो शम्मी ने बताया—"चाची जी, छुट्टियाँ कुल दस दिन की ही हैं—बस इसी में सारा सामान दिला दीजिये। लिस्ट मैंने बना रखी है।"

कम्मो देख रही थी कहीं झेंप-संकोच का नाम नहीं। उत्साह जैसे छलका पड़ रहा था।

"छुट्टी नहीं है तो और ले ले। शादी क्या बार-बार होती है।" कम्मो ने ज़रा छेड़ते हुए कहा।

"आगे तो लेनी ही हैं। दक्षिण जाने का प्रोग्राम बना है। समझ लीजिए महीना-भर तो लग ही जाएगा।"

"ओ हो! तो प्रोग्राम-प्रोग्राम सब बने रखे हैं। बहुत चिट्ठियाँ-पत्रियाँ चलती हैं शायद।" कम्मो के स्वर में अवश्य उल्लास था, पर वह स्वयं महसूस कर रही थी कि मन उसका बुझता जा रहा है।

"कल इन्द्र भी आ रहे हैं। संयोग की बात देखिये कि उन्हें भी आफ़िस के क़ाम से आना पड़ रहा है।"

"झूठी कहीं की ? लगता है दोनों ही घुटे हुए हैं। भाभी जी को धरका देकर आई और अब मसोग लगा रही है!" कम्मो दुस्साहस पर चकित थी।

"आपकी कसम चाची जी। मैंने अपना प्रोग्राम सवेरे ही डाक से पोस्ट किया और शाम की डाक से यह खबर मिली। मम्मा को लिखा नहीं दिया, बता दिया कि ये भी आएँगे! वे तो यहाँ भी आ चुके हैं दो बार!"

तभी मांजी आकर बैठ गई। उनके पीछे-पीछे हाथ मे बैट—बॉल लिये सोन था। अपने बड़े बेटे के परिवार से मांजी की कभी नही पटी, फिर भी घर आई पोती से बात तो करती ही थी। शम्मी, सोन को गोदी में उठाकर प्यार करती रही—और सिर्फ हूँ-हाँ से मांजी की बातों का जवाब देती रही। कम्मो उठकर अन्दर चली गई।

शम्मी से मिलकर, उसकी बातें सुनकर सचमुच ही कम्मो को बहुत अच्छा लगा। लगा जैसे भयंकर उमस के बाद ठण्डी नम हवा का एक झोंका आ गया हो, पर इस हवा ने उसके मन की आग को भी भड़का दिया! समय की परतें उतर गईं, और रह-रहकर उसे अपनी शादी वाला दिन याद आने लगा।

मैलेन की याद को पोंछ-पोंछकर उसने कितनी उमंग से अपने विवाहित जीवन मे प्रवेश किया था। अपनी सुहागरात का एक अजीब-सा चित्र उसके मन पर अंकित हो चुका था—हो सकता है किसी सिनेमा का दृश्य ही उसने मन पर उतार लिया हो, फिर भी वह उसका स्वप्न बन गया था। खिड़कियों और दरवाजों पर लटकते हुए मोर-पंखी रंग के पर्दे, दूधिया चादर, मोगरे के फूलो की लटकती हुई झालरें—श्वेत वस्त्रों मे लिपटी हुई वह और नीले रंग का ज़ीरो पॉवर का बल्ब। सब कुछ बड़ा ऐन्द्रजालिक सा। और फिर उसी इन्द्रजाल की माया के नीचे किसी की बलिष्ठ भुजाओं मे कसी हुई वह! पर वैसा कुछ भी नहीं हुआ। यों होने को सभी कुछ हुआ, पर कम्मो ने महसूस किया कि मिलन बहुत जड़ है—बिल्कुल यान्त्रिक। उमंग, उत्साह, प्यार की गर्मी, पागल बना देने वाली

आतुरता कुछ भी तो नहीं था। उसका मन विरक्ति से भर गया। दो दिन में ही वह पुरानी भी पड़ गई। चढ़ने से पहले ही नशा उतर गया। हर दिन आता और मित्तल की यही अधिक जड़ता उसे अधिक खिन्न बना कर चली जाती। वह चुपचुप रो लेती—पर बेचो-खरीदो, हानि-लाभ के बीच किसी को इन आंसुओं को देखने की फुर्सत भी नहीं थी—उन्हें पोंछता तो कैसे !

मित्तल आया तो दो-चार औपचारिक बातें शम्मी से कर लीं। कम्मो ने बताया कल इन्द्र भी आने वाले हैं तो कह दिया, "अच्छा ? फिर एक क्षण रुककर पूछा—किस गाड़ी से आयेंगे ? तुम जाकर ले आना—मैं तो क्या बताऊँ ?"

"कोई जरूरत नहीं है कुछ बताने की, मैं लेती आऊँगी।" खीज कर कम्मो ने कहा। शम्मी चुपचाप सुनती रही !

दोपहर में माँजी शोन को लेकर अपने कमरे में जाकर सो गईं तो शम्मी ने पूछा—"शोन सारे दिन माँजी के ही पास रहता है ?" "हुआ है तब से उन्हीं के पास रहता है। मैंने तो जाना ही नहीं कि बच्चा पालना कैसा होता है। बिना एक रात भी जागे, दो साल का हो गया। दोनों को एक-दूसरे के बिना चैन नहीं।"

"चलिये आप पर तो महरबानी है—वर्ना हम सब लोगों पर तो दादी शुरू से ही बड़ी नाराज़ रहीं।"

कम्मो के मुंह से एक ठण्डी निःश्वास फूट पड़ी। धीरे से बोली—"इनका ऐसा खयाल है कि जिस दिन मेरी सगाई का शगुन उनके घर में आया उसी दिन से इनके घर में लक्ष्मी ने वास कर लिया। इसी से बड़ी प्रसन्न हैं। पर किसे बताऊँ······" और फिर वह चुप हो गई।

शम्मी ने प्रसंग बदल दिया। उसे अपने बारे में शायद इतना कुछ कहना था कि और किसी की भावनाओं के सुनने-समझने का अवकाश ही नहीं था। वह विभोर होकर अपने ही इन्दु के परिचय, प्रणय और सम्बन्ध की बातें करती रही और कम्मो सोचती रही यह उन्नीस साल की है और

वह चौबीस की—फिर भी वह कितना बुढ़ा गई है। पर कहाँ, बुढ़ाई कहाँ? बुढ़ा जाती तो कितना अच्छा होता—और इन्द्रियों की भाँति ये आवेश और आवेग भी शिथिल हो जाते।

सारे दिन खरीद-फरोख्त करके इन्दु, शम्मी और कम्मो 'नीरा' में चाय पीने बैठे। कम्मो बराबर ही अपने साथ हो लेने पर पछता रही थी। उनके बीच उसने अपने को एक अनचाहे, अनावश्यक व्यक्ति की तरह ही महसूस किया। उसकी उपस्थिति को भूल, दोनों आपस में ही मगन थे। और व्यर्थता का यह बोध, अपमान की सीमा तक पहुँच गया जब आपस में कुछ इशारेबाजी करके बहुत ही विनय और मिन्नत के स्वर में इन्दु ने कहा, "चाची जी, कल तो मैं चला ही जाऊँगा, दो घंटे के लिए शम्मी के साथ छुट्टी देंगी?"

"क्या मतलब? मैं चली जाऊँ?" भरसक अपने को संयत रखकर उसने पूछा।

"न न, घर मत जाइये, वरना दादी जी जान ही निकाल देंगी।" शम्मी बोली फिर कुछ सोचकर कहा, "आप किसी परिचित के यहाँ दो घंटे नहीं बिता सकतीं, फिर सब लोग साथ-साथ घर चले जाएँगे।"

क्रोध और अपमान से कम्मो का चेहरा सुर्ख हो गया। खुद तो रंगरलियाँ करेंगे और मुझे कोई लौंडी, बाँदी समझ लिया है! मैं इनकी चाची होती हूँ, निर्लज्ज कहीं के। अपनी ही करनी है, तो डरते क्यों हैं? उसने पर्स में से रुपये निकाल कर बिल के साथ पटक दिए और अपने को भरसक संयत करके कहा—"कोई किसी की जान नहीं निकालेगा—तुम लोग घूम कर आओ, मैं जाती हूँ।" और वह लौट पड़ी। बचे हुए रुपयों के लिए भी वह नहीं ठहरी। जाने क्यों, उसे कुछ-कुछ उम्मीद थी कि शम्मी उसे आवाज़ देगी—आखिर वह उसके लहज़े को समझ तो गई होगी कि वह नाराज़ होकर जा रही है—पर किसी ने आवाज़ नहीं दी। सब और व्यर्थ—सचमुच किसी को उसकी अपेक्षा नहीं है।

गाड़ी में बैठी तो आँसुओं के पार उसे कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा

था। घर आकर उसने किसी से कोई बात नहीं की। माँजी शम्मी और इन्दु के रवैये से यों ही बौखलायी हुई थीं, कम्मो को अकेला देखा तो उसी पर बरस पड़ीं—"तू उन दोनों को कहाँ छोड़ आई? इस घर में लाज-शरम तो रह ही नहीं गई है। इस लड़के ने तो सारे घर को ऐसा बिगाड़ा है कि…"

कम्मो का मन हुआ साफ़ कह दे—वह किसी को नहीं छोड़कर आई, वे ही उसे छोड़कर चले गए। पर चुप रह गई।

"मेरा तो जुकाम के मारे सिर फटा जा रहा है—शोन को बैठकर खिला दे।" और सिर पर कस कर पट्टी बाँधकर वे अपनी खाट पर जाकर बड़बड़ाने लगीं।

शोन ज़िद करने लगा तो कम्मो ने खींचकर उसके गाल पर एक चाँटा मार दिया—ज़िद्दी कहीं का, हर बात में रोना। शोन की चीख सुनकर माँजी झपट कर आई—"हट यहाँ से। एक खाना खिलाने बैठी है, सो रुला दिया," और वे शोन और उसकी थाली लेकर अपने कमरे में चली गई।

शोन की बड़ी-बड़ी आँखों में आँसू देखकर कम्मो का मन टीस उठा। अकारण ही मार दिया बेचारे को। उसका मन हुआ जाकर उसे प्यार कर ले।

मित्तल आया तो वह लेटी हुई थी। शम्मी लौट आई थी और इन्दु फिर कहीं चला गया था। सब अपने-अपने कमरे में चुप थे, पर घर में एक तनाव था। कपड़े बदलते हुए मित्तल ने कहा—"माँजी को तो बुखार आ गया—शायद फ्लू है।"

"हूँ" लेटे-लेटे ही कम्मो ने जवाब दिया!

"कल डाक्टर को फ़ोन करके बुलवा लेना।"

कम्मो चुप।

"और ये शम्मी इन्दु को क्या हुआ है? माँजी बहुत नाराज़ हो रही थीं। ठीक है नये ज़माने के हैं, फिर भी एक मर्यादा तो होनी ही चाहिए?

नये जमाने के तो हम भी हैं।" फिर एक क्षण रुक कर बोला—"और तुम उन्हें अकेला क्यों छोड़ आईं? तुम तो बड़ी हो, समझदार हो कुछ तो खयाल रखना चाहिए न?"

कम्मो ने गुस्से मे होंठ काट लिया। उसकी आँखें छलछला आई हैं। मन तो हुआ कोई बेहद कड़वी बात कह दे, पर पी गई। मन की कटुता को व्यक्त करने के लिए शब्द नही थे उसके पास।

मित्तल ने कपड़े बदल लिये तो कम्मो ने केवल इतना कहा—"खाना खा लीजिए, मेरा सिर दर्द कर रहा है।"

"क्यों तुम्हें भी तो फ्लू नही हो गया? और उसने कम्मो के सिर पर हाथ रखा।

"नही, यो ही थकान की वजह से और उसने करवट बदल ली।"

सब सो गए थे, पर कम्मो को नींद नही आ रही थी। कोई खास बात नही हुई थी पर फिर भी उसे लग रहा था जैसे किसी ने बड़ी निर्ममता से उसके सारे घावो को कुरेद दिया है। क्यों आए शम्मी और इन्दु? वह बड़ी है, उसे समझाना चाहिए था—चौबीस साल की उसकी उम्र और सबको वह बुढ़िया दिखाई देने लगी—कभी उसे शम्मी इन्दु पर ही क्रोध आता। इतनी ही बेसब्री है तो कर ले शादी। शादी के पहले तो मर्यादा निभानी ही पड़ेगी। पर वह स्वयं नही समझ पा रही थी कि उसे उसके प्रति उसका आक्रोश वास्तविक क्रोध था, या ईर्ष्याजनित क्षोभ।

अजीब-सी बेचैनी से विकल होकर कम्मो उठ बैठी। इच्छा हुई छत पर चली जाये—बाहर बिखरी शीतल चाँदनी मे मन का संताप धो आये। रात मे पागलों की तरह अकेले छत पर टहलना, सूनी नज़रों से आसमान को देखना और अपने से ही लड़ते रहना, यही उसके यौवन का प्रारब्ध था। मित्तल बेखबर सोया था, घुटनों को छाती मे सिकोड़कर। कम्मो को लगा शायद इन्हे सर्दी लग रही है—उसने पास पड़ी चादर उसके पैरों पर डाल दी और स्लीपर पहनकर धीरे से दरवाज़ा खोला। पीछे के बरामदे मे अँधेरा छाया हुआ था। वह दो क़दम ही आगे बढ़ी थी कि ठिठक

गई। सीढ़ियों के पास ही गुंथी हुई दो छायाकृतियां। वह पीछे हट कर अपने दरवाज़े से सट गई—इतना दुस्साहस ! इन्दु के सीने में शम्मी का मुंह निकला और चार अधर मिले तो मिले ही रह गये—"चार बजे एक बार फिर आना ''ज़रूर आना, कल तो मैं फिर चला ही जाऊँगा।" कम्मो ने अस्पष्ट से स्वर सुने। मन की जलन को दुगनी करके वह अपने बिस्तर में घुस गई। निर्लज्ज—वेहया···

कम्मो सो नहीं सकी। उसका सारा शरीर ऐंठता रहा और वह रोती रही—दुख से, क्रोध से। एक अजीब-सा विचार उसके मन में आया। चार बजे वह चली जाये, पीठ करके खड़ी हो जाये और यदि···'छि' उसने घृणा से अपना ही होंठ काट लिया, पर फिर भी उसके सामने इन्दु मछलियाँ उभरी बांहें साकार हो गईं और यह इच्छा मन में टक्कर मारती ही रही। चार बजे उसकी बड़ी इच्छा हुई कि जाए, एक बार देखे तो···। पर पिछले छः वर्षों से वह जिस प्रकार अपने को नियंत्रित करती आ रही थी, कर गई और पड़ी रही !

दूसरे दिन इन्दु को छोड़कर लौटे तो पाँच बज गये थे। मित्तल स्टेशन से ही मार्केट चला गया और शम्मी अपने कमरे में पलंग पर जाकर लेट गई। वह रात-भर सोई नहीं थी, सो हो सकता है, नींद ही आ रही हो। सोई कम्मो भी नहीं थी, पर फिर भी उसकी आँखों में नींद नहीं थी। सवेरे से उठी है, तब से न उसे नींद है न भूख-प्यास। बस वह मशीन की तरह काम करती रही है। अम्मा की मालिश, दवाई, इन्दु के साथ जाने का खाना। आज शोन को भी इसी ने तैयार किया, थोड़ा रोया तो सही, पर हो गया।

शाम को अम्मा का बुखार तेज़ हो गया। अम्मा ने कहा—

"कम्मो शोन सो जाए तो अपने कमरे में ले जाना। यह बुखार अच्छा नहीं, कहीं इसे न लग जाए।"

"हूँ" कम्मो ने कहा। मित्तल आया तो अपने हाथ से परोस कर खाना खिला दिया। फिर अम्मा की छाती पर मालिश कर आधा घंटे तक सेंक

कर उन्हें भी सुला दिया। श्रम्मी के कमरे में झाँक कर देखा, वह सो चुकी थी। एक क्षण चुपचाप उसका चेहरा निहारती रही; फिर हल्के हाथ से उस पर चादर डाल दी, देख लिया कि पानी और गिलास रखा है। तब अपने कमरे में लौट आई। सवेरे से लेकर अब तक वह सारे काम यन्त्रवत् करती रही, मानो वह, वह नहीं। उसके मन में न कोई व्यथा थी न कोई चाह, पर रात में जैसे ही बिस्तरे पर लेटी कि यह जड़ता गलने लगी, प्रयास करके जमाई गई मन की परतें टूट-टूट कर बिखरने लगीं। फिर वही ललक, वही दुर्दमनीय चाह, नसों का तनाव, बदन की ऐंठन। उसकी आँखों में टप-टप आँसू की गरम-गरम बूँदें ढुलक गईं।

याद आया, बचपन में भी वह ऐसे ही बिस्तर पर पड़कर रोया करती थी और माँ का चेहरा और माँ की बाँहें उसके सामने उभर-उभर आती थीं और उसका मन होता था कि वे बाँहें उसे कस लें, पर उन्होंने उसे कभी नहीं कसा, वे केवल मन को टीसती ही रहीं।

पत्र पढ़ती थी और शैलेन का चेहरा उभरता था—शैलेन के शब्द कानों में टकराते थे— कम्मो, मैं तुम्हारे बिना कितना अकेला हूं, कितना असहाय। मुझे अपनी बाँहों के घेरे में बाँध लो कम्मो।....' और तब उसका मन होता था, 'शैलेन को एक छोटे बच्चे की तरह अपनी छाती में दुबका ले और कह दे कि तुम असहाय नहीं हो शैलेन, मैं तुम्हारी हूं, यह कम्मो तुम्हारी ही है।'

और शादी के बाद? कितना बड़ा आघात लगा उसकी कल्पनाओं को। हनीमून की कल्पना—बन्द कमरे में घन्टों मौन एक दूसरे को निहारने की कल्पना। कई बार वह जानबूझ कर दस-ग्यारह बजे तक सोने नहीं जाती, सोचती कि घुसते ही मिस्तल मुँह फुला लेगा—'कहाँ इतनी देर कर देती हो? यहाँ राह देखते-देखते मर गये। क्या काम रहता है ऐसा तुम्हें भीतर?' पर वैसा कुछ नहीं होता। उसे कभी लगा ही नहीं कि मिस्तल को उसकी चाहना है। यों आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तो सब कुछ मशीनी ढंग से होना ही था। पर वह तृप्त नहीं हो पाती थी—भावनाओं की

मिठास जो नहीं थी ।

रात में मित्तल जब सो जाता तो वह पास पड़ी-पड़ी उसे देखा करती और फिर रो पड़ती । एक ही ललक उसके मन को बेंधती रहती कि कुछ ऐसा हो जाये कि मित्तल की यह सारी जड़ता, सारी यान्त्रिकता एक झटके से दूर हो जाये और वह पागलों की तरह उसे अपनी भुजाओं में कस ले, अपने सीने में समेट ले और फिर उन्मत्त-सी वह उसके सिर को अपनी छाती में छिपा ले, उसके गले में बाँहें डाल दे—दोनों एक दूसरे को पूर्ण कर दें । पर ऐसा कभी नहीं हुआ और कम्मो के दिल-दिमाग़ पर मित्तल का चेहरा, उसकी बाँहें—उसका सीना छाया रहता और मन में शूल-सा कुछ चुभने लगता ।

और आज ? आज उसके सामने न माँ का चेहरा उभर रहा है, न शैलेन का ? न मित्तल का । सब चेहरे मिट गये, रह गई सिर्फ़ एक चाह—दुर्दमनीय चाह, एक ललक कि कोई हो, कोई भी—जो उसे कस कर अपने में समेट ले, जिसकी आँखों में प्यार हो, अपूर्णता हो, कम्मो को पाने की पिपासा हो, और अपने को पूर्ण बनाने के लिए वह कम्मो को इतना भींचे, इतना भींचे कि उसकी हड्डियाँ तक चरमरा जाएँ, उसका दम ही घुट जाए ।

चार रात हो गई हैं, वह बिल्कुल नहीं सोई है । यों भी नींद उसे आती ही नहीं—यह जलन और चुभन सोने ही नहीं देती—पर इधर तो वह एक पल भी नहीं सोई है । वह कितना चाहती है कि एक गहरी नींद ही आ जाये—इतनी लम्बी और इतनी गहरी कि कुछ समय के लिए तो यह भारीपन दूर हो जाये । उसने औंधे लेट कर अपना मुँह कसकर तकिये में गड़ा दिया—वह जैसे होगा, सोने का प्रयास करेगी—पर तभी पास लेटा शोन ज़ोर से चीख कर रो उठा । पता नहीं, उसने सपने में क्या देखा कि डर कर दोनों बाँहें फैला दीं । उसके भिंचे और रुंधे गले से केवल इतना ही निकल पा रहा था—"माँ—हाऊ—माँ—हाऊ—हा—" कम्मो ने जल्दी से उठ कर उसे गोदी में ले लिया । गोद में जाते ही शोन एक बार फिर

ज़ोर से चिल्लाया 'हाऊ—हाऊ' और दोनों बाँहें कम्मो के गले में डाल-कर कस कर उसकी छाती में चिपक गया। कम्मो प्यार से उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगी—'देख तो कोई नहीं है—देख तो—' पर वह चिपटा ही जा रहा था। डर के मारे उसने आँखें भी नहीं खोलीं। किसी तरह वह चुप तो हुआ पर घिघियाया हुआ कम्मो से ही चिपटा रहा। कम्मो सोई तो वैसे ही गले में बाँहें डाले और उसकी छाती से लिपट कर ही सोया।

लेटने के थोड़ी देर बाद ही कम्मो की आँख लग गई।

कमरे, कमरा और कमरे

उस घर में पाँच कमरे थे और किसी कमरे की कोई व्यवस्था नहीं थी। सब कमरों में लोग बैठते थे, सोते थे, खेलते थे और खाते थे। जिस कमरे में खेल जमा हो वहाँ यदि अम्मा पास-पड़ोस की किसी चाची-ताई के साथ आ बैठतीं, तो खेल दूसरे कमरे में चला जाता। अम्मा अधिकतर बीमार रहती थीं, इसलिए घर की जैसी भी व्यवस्था थी वह नीलू को ही संभालनी पड़ती थी और नीलू को लगता था कि जब तक वह घर में रहती है, वह पाँच कमरों और छठी रसोई में बंटी-बिखरी रहती है। धोबी आता, तो वह हर कमरे से गन्दे कपड़े बटोरती फिरती। पलंगों के नीचे, खूँटियों के ऊपर और कुर्सियों की पीठ पर लटके हुए कपड़े उसे मिलते थे और लिखने से पहले एक बार फिर उसे सबके पास जाकर पूछना भी पड़ता था कि किसी को कुछ देना तो नहीं है। सफ़ाई करवाते समय हर कमरे से नाश्ते की जूठी प्लेटें, खाली दोने या तेल सने कागज़ के टुकड़े निकलते थे और कोई चीज गुम हो जाने पर हर कमरे में ढूँढ़ना अनिवार्य हो जाता था। नीलू ने कई बार चाहा और कोशिश भी की कि वह एक कमरा अपने लिए ले ले एक अम्मा और बाबू का बना दे, एक तीन छोटे भाई-बहनों का, एक खाने का और एक बैठने का। पर वर्षों से चली आयी उस व्यवस्था में नीलू की चाहना कभी पूरी नहीं हो सकी। और पाँच कमरों में बँटकर ही उसे अपना हर काम करना पड़ता था और पाँचों कमरों में घूम-घूम कर ही उसे अपनी पढ़ाई करनी पड़ती थी। यह बात बिल्कुल दूसरी है कि उसके बावजूद वह हमेशा टॉप ही करती आयी थी।

जब एम० ए० में उसने प्रथम श्रेणी, द्वितीय स्थान प्राप्त किया, तो उसकी खुशी और जश्न भी पाँचों कमरों में ही मनाया गया। एक कमरे में अम्मा के साथ औरतें थीं, तो दूसरे में पिताजी के मित्र। एक कमरे में बच्चे पूरे शोर-शराबे के साथ आइसक्रीम जमा रहे थे, तो एक में उसकी अपनी सहेलियाँ ईर्ष्या और खुशी की मिली-जुली भावना से चहक रही थीं। और वह थी कि थोड़ी-थोड़ी देर में हर कमरे में जाती थी, किसी को कुछ देने या किसी से आशीर्वाद या बधाई लेने। सभी कमरों में अपने-अपने ढंग से उसकी योजनाएं बन रही थीं। बाबू बहुत उल्लसित थे और उनकी छाती गर्व से फूली नहीं समा रही थी। मित्रों के यह कहने पर कि अब उन्हें अच्छा लड़का ढूंढ कर नीलू का रिश्ता कर देना चाहिए, वे हिकारत भरी नज़र फेंकते और कहते, "मेरा बड़ी इच्छा थी कि नीलू को डॉक्टर बनाऊँ, पर साइंस में इसकी बिल्कुल रुचि ही नहीं थी। पर कोई बात नहीं, मैं अभी भी इसे डॉक्टर ही बनाऊँगा।" मित्रों ने बड़ी सद्‌भावना से जमाने के बेढंगेपन की ओर संकेत किया, तो बड़ी लापरवाही से बोले, "मेरी नीलू केवल बुद्धि की ही धनी नहीं, किस्मत की भी बड़ी बली है। बीहड़ रास्ते पर भी कदम बढ़ा देगी तो सारा झाड़-झखाड़ हट जायेगा और राजमार्ग बन जायेगा।"

उधर अम्मा को सलाह दी जा रही थी कि जब तक रिश्ता पक्का हो, नौकरी जरूर करवा दो। आजकल तो लड़कियाँ भी धड़ल्ले से कमाने लगी हैं। भगवान ऐसा न करे, पर यदि दो साल रिश्ता न हुआ; तो अपने दहेज का खर्चा खुद ही निकाल लेगी।"

चुप थी तो केवल बुद्धि की धनी और किस्मत की बली नीलू! पाँच कमरों में बँटी-बिखरी वह! अपने बारे में कुछ सोच पाती थी, न कोई निर्णय ही ले पाती थी।

नीचे के पाँच कमरों का विस्तार सीमित था, फिर भी कभी नीलू उनमें नहीं सिमट पाती थी। ऊपर के असीम विस्तार में ही उसे अपनी सीमाओं का, अपने पूरे होने का एहसास हो पाता था और तब उसे अपने

भीतर जाने कैसी-कैसी सम्भावनाओं का बोध होता था। लगता था कि यदि वह किसी प्रकार अपने को पूरी तरह समेट सके, तो पता नहीं वह क्या-क्या कर सकती है।

और तब उसने खाट पर लेट कर दो निर्णय लिये थे—वह बाहर जाकर नौकरी करेगी और दूसरा कि नौकरी के साथ-साथ वह अपनी पढ़ाई भी जारी रखेगी। उसके भीतर जो 'कुछ' कुलबुलाया करता है, उसे बाहर आने का पूरा-पूरा अवकाश देगी।

दूसरे दिन उसने अपनी बात बाबू से कही। बाबू ने उसकी बात का समर्थन ही किया और बाबू द्वारा समर्थित उसका निर्णय थोड़ी ही देर में सारे घर में फैल गया। अब सारा घर अखबारों में विज्ञापन देखता और जिस किसी भी महिला कॉलेज में माँग निकलती, वहाँ अर्जी दे दी जाती, जून के मध्य तक तीन जगहों से इण्टरव्यू का बुलावा आया, सबसे पहली तारीख दिल्ली के एक कॉलेज की थी।

वह खुश भी थी और हल्के-से 'नर्वस' भी। बाहर घूमना-फिरना, धड़ल्ले से अंग्रेज़ी बोलने का उसे अभ्यास नहीं था, पर बाबू का कहना था कि चाहे नीलू कम बोलती हो, लेकिन उसके बात करने का ढंग बहुत ही प्रभावशाली है। उसे नहीं मालूम कि बाबू की इस धारणा में सच्चाई थी या उनके अत्यधिक स्नेह का परिणाम।

दो जगहें थीं और इण्टरव्यू के लिए सोलह उम्मीदवार आये थे, इसलिए नीलू को अपने लिए कोई उम्मीद नज़र नहीं आ रही थी। फिर वह यह भी जानती थी कि आजकल नियुक्तियाँ शैक्षणिक योग्यता पर नहीं होती हैं, उसके लिए दूसरी तरह की योग्यता चाहिए और उस क्षेत्र में वह और बाबू दोनों ही बहुत अयोग्य थे। पर बाबू फिर भी बहुत आश्वस्त थे, क्योंकि सबसे ऊपर किस्मत को मानते थे और उनके अनुसार नीलू किस्मत की धनी थी।

बाबू का विश्वास व्यर्थ नहीं गया और नीलू की नियुक्ति हो गयी। जिस दिन समाचार आया, उस दिन फिर घर में खुशियाँ मनायी गयीं,

पर इस बार सबसे ज्यादा खुश वह स्वयं थी। उसकी अनुपस्थिति में घर की व्यवस्था की चिन्ता ने अम्मा के मन की खुशी को जल्दी ही धुंधला कर दिया और छोटे भाई-बहन इस बात से परेशान होते थे कि दीदी के साथ जितनी छूट और सुविधाएँ भोग लीं अब आगे उनका सिलसिला कैसे बैठेगा? सिर्फ बाबू थे, जो किसी स्वार्थ से नहीं, उसके जाने की कल्पना-मात्र से दुखी थे। यों उनका सन्तुष्ट गर्व और मह उस दुख को धोने की कोशिश कर रहा था।

जाने की तैयारियाँ शुरू हो गयीं। उसने बाजार से अपने लिए बहुत-सा सामान खरीदा। फिर घर के हर कमरे से अपना सामान और अपने को बटोरा और तब नीमू दो बक्सों, एक होल्डॉल और एक अटैची में सिमट कर दिल्ली के लिए चल पड़ी। दरवाज़े पर आते-आते बहुत सभालने पर भी अम्मा को रोना आ ही गया, तो वह भी रो पड़ी। उसने बड़ी कातर-सी नजरों से उस घर को देखा, जिसे होश आने के बाद से ही वह संभालती आ रही थी। अम्मा को छोड़कर बाकी सब स्टेशन आये थे और बाबू दिल्ली तक आये थे।

लड़कियों के होस्टल के साथ ही कुछ कमरे स्टाफ मेम्बर्स के लिए भी बने थे। एक बड़ा कमरा, एक छोटा कमरा और उसके साथ एक बाथरूम। मीरा पटेल की नियुक्ति उसके साथ ही हुई थी और इसी कारण वह उसकी घनिष्ठ मित्र बन गयी थी। दोनों ने मिलकर अपने निजी काम-काज के लिए एक आया रख ली थी। और इस तरह पांच कमरों में बटी-बिखरी जिन्दगी एक कमरे में सिमट आयी थी। हर वस्तु का एक निश्चित स्थान था और हर काम का निश्चित समय। खाने का समय होता तो उसे किसी के पास नहीं जाना पड़ता था। मेस का बैरा उससे पूछने आता था कि वह खाना डाइनिंग हॉल में खायेगी या वहीं लाया जाये। धोबी आने पर आया बाथरूम में रखे लॉण्ड्री-बैग से कपड़े निकाल कर दे देती थी और

फिर उससे पूछ लेती थी कि और कोई कपड़ा तो नहीं है ? डाक आती थी तो चपरासी उसके कमरे पर पहुँचा जाता था। पढ़ने बैठती तो थोड़ी-थोड़ी देर में किसी की आवाजों पर उसे उठना नहीं पड़ता था, थककर या ऊब कर ही उठती थी।

अब वह नीलू से मिस नीलिमा गुप्ता हो गयी थी। नाम के इस हल्के से परिवर्तन ने उसके भीतर कहीं बहुत बड़ा परिवर्तन ला दिया था।

अम्मा और बाबू के पत्र आते थे मिनि और टीटू के पत्र आते थे, अपने कॉलिज की सहेलियों के पत्र भी आते थे। वह सबको जवाब देती थी, उतनी ही आत्मीयता और अपनेपन से, पर भीतर-ही-भीतर उसे बराबर यह लगता था कि वह जिन्दगी के बिल्कुल ही दूसरे स्तर पर आ गयी है और यहाँ आने से उसे बड़ा सन्तोष भी था और थोड़ा गर्व भी।

शाम को वह दिल्ली की सड़कों पर घूमती थी या होस्टल के लम्बे-चौड़े लॉन में बैठकर पढ़ती थी। पर उसके भीतर कहीं कुछ ऐसा गढ़ गया था कि सड़कों का विस्तार और लॉन्स का फैलाव उसे तोड़ता-बिखेरता नहीं था।

धीरे-धीरे उसे लगने लगा कि जिन सम्भावनाओं का उसे एहसास होता था, सचमुच उसमें हैं। वह बड़ी लगन के साथ उन्हें रास्ता देती गयी और सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ती गयी। पर वह अपने मनोवांछित रास्ते पर जितनी आगे बढ़ती जा रही थी, घर से, घरवालों से अनजाने और अनचाहे उतनी ही दूर होती जा रही थी। पहले की तरह उसने हर छुट्टी में घर जाना बन्द कर दिया। लम्बी छुट्टियों में भी वह केवल पाँच-सात दिनों के लिए ही घर जाती थी और हर बार उसे यह लगता था कि घर और उसके बीच की खाई बढ़ती जा रही है। अब घर जाने के पीछे अपनेपन की भावना कम और कर्त्तव्यभावना ज़्यादा रहती थी।

चार साल में उसने पी-एच० डी० की डिग्री ले ली। उसकी थीसिस की काफ़ी सराहना हुई थी। अब वह यूनिवर्सिटी में होने वाले सेमिनारों में अक्सर पेपर पढ़ती थी और बहस-चर्चा में खूब भाग लेती थी। उसके

लेख प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में केवल छपते ही नहीं थे, वरन् उनकी टीका-टिप्पणी और प्रशंसा भी होती थी। वह मात्र प्राध्यापिका ही नहीं थी, उसकी योग्यता के और पहलू भी सामने आये थे, जिसके कारण वह सामान्य से कुछ विशिष्ट हो गयी थी।

पर इस सारी पूर्णता के साथ-ही-साथ अब उसे एक नयी अपूर्णता का बोध होने लगा था। मीरा पटेल स्कॉलरशिप लेकर स्टेट्स चली गयी थी। पुस्तकों, पत्रिकाओं और फाइलों की भरमार के कारण उसके अपने कमरे की लम्बाई-चौड़ाई बहुत अधिक सिमट गयी थी, जिसमें बैठकर उसे बहुत घुटन का एहसास होता था। यही नहीं, कभी-कभी तो उसे यहाँ तक लगता था कि जैसे पूरे कॉलेज की चहारदीवारी उसके कमरे में बदल गयी है, जो निरन्तर सिमटता जा रहा है। तब वह कोई साथ मिलता, तो उसे लेकर या अकेले ही घूमने निकल जाती थी, पर वह चाहे सड़कों पर घूमती, चाहे किसी रेस्तराँ में या सिनेमा में बैठती ''रात को सारी सड़कें और सारे स्थान उसे वापस उसके कमरे पर ही छोड़ जाते। और वह हैरान थी कि जिस अकेले कमरे की उसने इतनी कामना की, जिस कमरे ने उसे कहाँ से कहाँ लाकर खड़ा कर दिया, वही कमरा आज उसकी सीमा बन गया है।

गर्मी की छुट्टियों में स्थिति और भी बुरी हो गयी। मीरा की अनुपस्थिति में उसका मन कहीं भी जाने को नहीं हुआ। लड़कियाँ सब अपने घरों को चली गयी थीं और बिना लड़कियों के होस्टल के लॉन और अधिक लम्बे-चौड़े हो गये थे, जिनमें सारे दिन साथ-साथ करती लूएँ चला करती थीं। उसका बड़ा मन होता था कि वह अपने कमरे से निकल कर दूसरों के कमरों पर जाये, पर सारे कमरों में ताले लटके हुए थे, और खीझकर उसे अपने ही कमरे में लौटना पड़ता था।

ऐसी बात नहीं कि वह अपनी इस खीझ और ऊब का कारण नहीं समझती हो। पर उसे दूर करने का उपाय उसे सचमुच ही समझ में नहीं आता था। उसने अपने चारों ओर नजर दौड़ायी, पर कोई ऐसा व्यक्ति

नहीं दिखायी दिया जिस पर उसकी नज़र ठहरती।

दिन सरकते जाते थे और मन का खालीपन बढ़ता जाता था। पढ़ाने का काम उसे बड़ा बोर और निरर्थक लगने लगा। लगता, जैसे क्लास में बैठकर वह केवल अपने को दोहराती है, और जितनी बार वह अपने को दोहराती है, जड़ता की उतनी ही परतें उसके मन पर जमती जाती हैं। हाँ, अब वह चौकन्नी ज़रूर हो गयी थी और व्यक्तियों से मिलते समय, उन्हें आंकते समय उसकी नज़र में एक नया नुक्ता और जुड़ गया था।

और आखिर उसके इस नुक्ते में भी एक व्यक्ति अटक ही गया। श्रीनिवास से उसका परिचय जयपुर में हुआ था, पर तब इस तरह की कोई सम्भावना उसके अपने मन में नहीं आयी थी। वह इतिहास की कुछ छात्राओं को राजस्थान घुमाने ले गयी थी। जयपुर में जहाँ उनके ठहरने की व्यवस्था थी, उसके पास ही श्रीनिवास का बँगला था, सो परिचय हो गया। दूसरे दिन शाम को उसने पन्द्रह लोगों की इस पार्टी को अपने लॉन में चाय पिलायी। बातचीत राजनीति शिक्षा से गुज़रती हुई भारतीय संस्कृति और उसके विघटन पर आकर टिकी थी। तब नीलिमा का ध्यान एकाएक अपने साथ की लड़कियों पर गया, जो टूरिस्ट-वेश में भारतीय कम और विदेशी ज़्यादा लग रही थीं। पर वह समझ नहीं पायी कि बात सामान्य तौर पर कही गयी थी कि किसी विशेष को लक्ष्य करके। व्यक्तिगत जीवन के बारे में वह इतना ही जान पायी थी कि श्रीनिवास विधुर है और उसकी एक लड़की शान्ति-निकेतन में पढ़ती है।

लौटते समय किसी तरह की कोई बात उसके मन में नहीं थी, सिवाय इस छाप के कि श्रीनिवास एक धनी, शिष्ट और निहायत ही 'सोफेस्टिकेटेड' किस्म का आदमी है। पर दो महीने बाद ही जब वह दिल्ली आकर उससे मिला, और बहुत आग्रह से खाने पर आमंत्रित किया, तो पहली बार उसके मन में कहीं हल्के-से एक सम्भावना का उदय हुआ। और लौटते समय यह सम्भावना चाह में बदलने लगी थी। उसे लगा था कि श्रीनिवास ही वह व्यक्ति है, जो उसे उसके कमरे से बाहर निकाल सकता है।

लौटकर श्रीनिवास ने धन्यवाद का एक औपचारिक पत्र लिखा था, पर नीलिमा को अपने मन की कोरी स्लेट पर यह वही औपचारिकता भी बड़ी आत्मीय लगी थी। उसने श्रीनिवास को उत्तर दिया था—इस आग्रह के साथ कि जब भी वह दिल्ली आये, उससे जरूर मिला करे। तीन महीने में ही श्रीनिवास के तीन चक्कर लगे और तीसरी मुलाकात में ही इस सामान्य परिचय को 'विशेष' रूप देने का प्रस्ताव उसके सामने था और उसे बाबू के शब्द याद आ रहे थे""मेरी नीलू किस्मत की ऐसी धनी है कि बीहड़ रास्ते पर भी कदम बढ़ा दे, तो सारा झाड़-झंखाड़ हट जायेगा। और राजमार्ग बन जायेगा।' उसे सचमुच ही राजमार्ग दिखायी देने लगा, जो श्रीनिवास के बँगले पर जाकर समाप्त होता था।

-

श्रीनिवास जयपुर छोड़कर दिल्ली आ गया और नीलिमा कॉलेज और होस्टल छोड़कर श्रीनिवास के गोल्फ-लिंक वाले फ्लैट में आ गयी। उसका पूरा का पूरा कमरा लकड़ी के बक्सों में बन्द होकर गोल्फ लिंक आया। इस घर में अति आधुनिक ढंग के सजे-सजाये चार कमरे थे और नीलिमा के सामान के लिए उनमें विशेष गुंजाइश नहीं थी, इसलिए उसे ऊपर की दुछत्ती में चढ़ाकर बन्द कर दिया। दो सीखे-सिखाये चुस्त नौकर नीलिमा की सेवा में थे और श्रीनिवास उसकी छोटी-से-छोटी इच्छा को भी आदेश के रूप में लेता था। लम्बे अरसे से एक कमरे में बन्द नीलिमा अब चारों कमरों में घूमती। बिना किसी काम के खाली-खाली घूमना भी बहुत अच्छा लगता।

श्रीनिवास को अपने काम के सिलसिले में बाहर बहुत घूमना पड़ता था। शुरू में नीलिमा ने भी साथ जाना शुरू किया। दोहरा आकर्षण था—श्रीनिवास के साथ का और नयी-नयी जगह देखने का, पर जल्दी ही उसने जाना छोड़ दिया क्योंकि श्रीनिवास अपने काम में लगा रहता था और वह अकेली-अकेली बोर होती थी।

श्रीनिवास का काम था कि बढ़ता ही जा रहा था और उसे विश्वसनीय लोगों की आवश्यकता थी। उसने इच्छा प्रकट की कि यदि नीलिमा उसके काम में हाथ बंटाये तो बाहर जाते समय वह अधिक आश्वस्त रह सकता है। नीलिमा महसूस करती थी कि वह श्रीनिवास के जीवन की, उसके हर काम की भागीदार है, सो उसने स्वीकार कर लिया और अब वह घर के चार कमरों से बढ़कर आफ़िस के साथ कमरों तक फैल गयी। श्रीनिवास की अनुपस्थिति में वह नियमित रूप से सवेरे से शाम तक आफ़िस में बैठती और जब घर भी आती, तो आफ़िस साथ ही आता था। विशेष रुचि न होने पर भी वह इस काम को पूरी मेहनत से करती थी, पर बिना रुचि की मेहनत उसे जल्दी ही थका देती थी।

रविवार को उसका मन होता था कि वह अपने को सब तरफ़ से काटकर अपने कमरे में बन्द कर ले। श्रीनिवास नहीं होता था तो वह कर भी लेती थी। पत्रिकाएँ पढ़ती थी और न जाने कितने विचार उसके मन में उतरते थे, पर रविवार के बीतते ही ढेर सारे काम उसके सामने फैल जाते। एक बार उसमें उलझने के बाद उसे फिर किसी बात का ख़याल ही नहीं रहता।

ऐसे ही एक रविवार को एक अमरीकी पत्रिका के पन्ने पलटते हुए उसे मीरा पटेल का एक लेख नज़र आया। विषय था—'समुचित आर्थिक योजनाओं के अभाव में ही भारत के प्राचीन गणराज्य असफल हुए।' उसे याद आया कि यह विषय उसी का चुना हुआ था। और उसने स्वयं इस विषय पर बहुत-सा काम भी किया था। मीरा को तब भी यह विषय बहुत पसन्द आया था। नीलिमा की नज़र ऊपर उस दुछत्ती की ओर उठी, जिसके बीचे से दरवाज़े पर ताला झूल रहा था। वह याद करने लगी कि जिन फाइलों में इस विषय से सम्बन्धित सामग्री है, वे किस बाक्स में बन्द होंगी। आज वह ज़रूर उस बाक्स को निकालेगी।

शाम को उसने नौकर से बांस की सीढ़ी लगवायी। उस सीढ़ी पर चढ़ते हुए उसे थोड़ा डर ज़रूर लगा, फिर भी ऊपर पहुँच गयी। उसने

नौकर को बुलवाया और दो बक्स खुलवाये। उनमें से कुछ पुस्तकें, पत्रिकाएँ और फ़ाइलें लेकर वह नीचे उतरी। उसने उन्हें सारे पलंग पर फैला लिया। अपने ही लिखे हुए पन्ने उसे बड़े अपरिचित से लग रहे थे और उसे जैसे विश्वास ही नहीं हो रहा था कि यह सब उसी ने लिखा है। रात बड़ी देर तक वह पढ़ती रही और उसने सोचा कि एक बार फिर वह कुछ समय के लिए अपने को सब ओर से काटकर इसी काम में लगायेगी और जुटकर इन्हें 'रिवाइज़' करके छपने भेज देगी। बहुत दिनों बाद उसे यों अपने आप में सिमट आने की अनुभूति हुई थी। और वह अतिरिक्त रूप से उल्लसित थी।

दूसरे दिन शाम को आफ़िस से लौटकर नीलिमा फिर अपने कागज़-पन्नों में डूब गयी। आठ बजे के करीब नौकर ने याद दिलाया कि श्रीनिवास का प्लेन नौ बजे आनेवाला है, तो वह झटके से उठी। सारे कागज़ समेट कर उसने साइड-टेबिल पर रखे और पेपरवेट रख दिया। फिर वह पाँच मिनट में तैयार होकर पालम की ओर चल दी।

रात ग्यारह बजे के करीब नीलिमा श्रीनिवास की बाँह का तकिया बनाये हुए लेटी थी। श्रीनिवास बहुत उल्लसित था। नीलिमा ने यहाँ का काम बहुत अच्छी तरह सँभाल लिया था और इस बार वह काम बढ़ाने की अनेक सम्भावनाओं को साथ लेकर आया था। बड़े गद्गद-से स्वर में अपनी सारी योजनाएँ बताते हुए उसने कहा, "नीलू, तुम्हारे बाबू ठीक ही कहते थे। जब से तुम आयी हो, मैं धूल भी हाथ में लेता हूँ तो सोना हो जाती है। इस बार यह प्लाण्ट लग गया तो सचमुच सोना ही उगलेगा।"

ऊपर पूरी तेज़ी के साथ पंखा चल रहा था, बगल में श्रीनिवास के खर्राटों की हल्की-सी आवाज़ आ रही थी और इन दोनों की मिली-जुली आवाज़ों में पेपरवेट के नीचे फरफराते कागज़ों की आवाज़ डूब-सी गयी थी।

ऊँचाई

दोनों में से शायद कोई भी नहीं सोया था, हाँ उनके बीच का प्यार और अपनत्व सो गया था, सो ही नहीं गया था, शायद मर गया था। एक ही पलंग पर दोनों के शरीर पास-पास लेटे थे, पर मन के बीच एक अनन्त दूरी आ गई थी। शिवानी के मन में कहीं बहुत गहरे एक टीस अवश्य थी, पर ऊपर की उस जड़ता को क्या करे जो उस टीस का पूरी तरह एहसास भी नहीं होने देती थी, जिसके नीचे अतीत, वर्तमान और भविष्य सभी-कुछ इस प्रकार मिल-जुल गए थे कि वह तीनों को अलग-अलग करके देख ही नहीं पाती। आठ वर्ष के सुखद विवाहित जीवन की मधुर घड़ियाँ, किसी भी क्षण टूट जाने वाला वर्तमान का यह तनाव और अनिश्चित भविष्य का अन्धकार उसे न कहीं से पुलकित कर रहा था, न खिन्न, न भयभीत। हाँ कल सारे दिन उसने यह प्रतीक्षा अवश्य की थी कि शिशिर उससे कुछ बोलेगा; उसे डाँटे-फटकारेगा, सफ़ाई माँगेगा या अपने इस तरह एकाएक चले आने पर पश्चात्ताप करता हुआ समझौता कर लेगा। बीस घण्टे की रेल-यात्रा में उसने आपस में होनेवाली बातों की अनेकानेक कल्पनाएँ की थीं, पर इस जटिल गाँठ को न खोल पा सकने वाली ये चन्द औपचारिक बातें, यह असह्य-तनाव तो अप्रत्याशित ही था।

और जब रात आई तो शिवानी को लगा कि शायद इस रात के खामोश सन्नाटे में ऐसा कुछ होगा, जिसकी वह सारे दिन से प्रतीक्षा करती आई है। बिना एक शब्द भी बोले केवल देह की निकटता और स्पर्श, ये दोनों को कहीं इतना पास ले आएँगे कि सारे तनाव ढीले हो जाएँगे और

मन का सारा मैल आँसुओं में बह जाएगा, पर वैसा भी कुछ नहीं हुआ। पास लेटे शिशिर के शरीर की हर हरकत ने पहले उसके मन में आशा जगाई और फिर क्षोभ। और जैसे-जैसे समय बीतता गया शिवानी के मन की सारी कोमलता कठोरता और जड़ता में बदलती चली गई और उसे लगने लगा, जैसे वह कुछ भी महसूस करने में असमर्थ हो उठी है।

बिस्तर पर लेटे रहना जब असह्य हो गया तो वह उठी, कन्धे पर शॉल और पैरों में चप्पल डालकर बाहर निकल आई। बीतते नवम्बर के कोहरे का धुँधलका चारों ओर छाया हुआ था। बड़ा-सा बगीचा, चारों ओर लम्बे वृक्ष और छोटी झाड़ियाँ ओस में भीगी और अँधेरे में डूबी खड़ी थीं। मन की शून्यता को और गहरा देने वाला सन्नाटा था। उसने समय का अन्दाज लगाना चाहा, पर लगा नहीं पाई, हाँ पूर्व की ओर कोहरे को चीरकर सफेदी की हल्की-सी आभा ज़रूर झलक मार रही थी। उसने शॉल को अच्छी तरह अपने चारों ओर लपेटा और चार सीढ़ियाँ उतरकर लाल बजरी की सड़क पर आ गई। अँधेरी सड़क पर पेड़ों की खामोश, उदास छायाएँ गहरे काले रंग के धब्बों के रूप में फैली-बिखरी पड़ी थीं। चलकर वह फाटक के पास बने कुएँ पर आ गई। कुछ देर इधर-उधर देखती वहीं खड़ी रही, फिर उसी की जगत पर बैठ गई। हवा की ठण्डक और नमी से धीरे-धीरे उसकी जड़ता गलने लगी और सबसे पहले उसके मन में आया, वह यहाँ क्यों आई?

पन्द्रह दिन पहले शिशिर बिना कुछ बोले-सुने यहाँ चला आया था। उस दिन उसका बड़ा मन हुआ था कि दोनों बाँहों से पकड़कर शिशिर को रोक ले, पर कहीं से वह इतनी अवश हो उठी थी कि उससे हिला तक न गया। जाने का प्रसंग, जाने का ढंग, जैसे सब चीख-चीखकर उसे बता रहे थे कि शिशिर केवल उसके घर से ही नहीं, उसके जीवन से भी जा रहा है, पर वह थी कि न इसे समझ पाई, न स्वीकार पाई। मिलकर बिताये हुए सुख-दुख के आठ साल क्या इस तरह झुठलाए जा सकते हैं? और फिर जो कुछ हो गया वह क्या इतनी बड़ी बात थी जिसके लिए यह सम्बन्ध टूट

जाए ? कितना गहरा था उनका यह सम्बन्ध और कितनी गहरी आस्था थी उस सम्बन्ध के प्रति ! उस आस्था ने ही तो उससे बिना किसी दुविधा-संकोच के वह सब करवा लिया था जो किसी भी नारी के लिए शायद असम्भव है। शिशिर के जाने के बाद के पन्द्रह दिन कितने अनमने और उदास-से बीते थे, पर यह तो कभी नहीं लगा था कि वह आएगा नहीं। यह आशंका मन में आती और निकल जाती, दो क्षण को भी तो जम नहीं पाती थी। यों तो दोनों में कितनी ही बार लड़ाई होती थी, कई दिन तक बोल-चाल बन्द रहती थी, पर जिस दिन समझौता होता, वे दोनों कहीं और ज्यादा पास आ जाते। हर बार का झगड़ा उन्हें निकट-से-निकटतर ही लाया था और इसीलिए जिस दिन उसे शिशिर का पत्र मिला था कि '२५ तारीख की गाड़ी पकड़कर २६ को राजगिरि पहुँचो, मैं स्टेशन पर तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा', तो एकाएक ही उसके मन का सारा बोझ हलका हो गया था। एक बार भी उसके मन में नहीं आया कि इस बार की घटना, इस बार का कारण पहले से बिलकुल भिन्न है, इसलिए इसका परिणाम भी भिन्न ही होगा। २६ को जब वह दो डिब्बों की ट्रामनुमा गाड़ी से राजगिरि स्टेशन पर उतरी तो शिशिर खड़ा था। देखकर यह ज़रूर लगा था कि पन्द्रह दिन में ही जैसे ही शिशिर कहीं से बहुत बदल गया है—इतना कि पहचानने में भी तकलीफ़-सी हुई थी।

कहीं दूर से भोजपुरी गीत की एक कड़ी हवा की लहरियों पर थिरकती हुई आई और मन के सारे तारों को झनझना गई। शिवानी की इच्छा हुई कि पास बैठकर कोई बहुत ही दर्दनाक गीत उसे सुनाए। पता नहीं कौन···दूर-ही-दूर से गाता हुआ चला गया !

वह आज ही वापस लौट जाएगी। जो कुछ हुआ है उसे स्वीकार कर लेने में ही सार है। निश्चय उसने कर लिया, पर अपने निश्चय के परिणाम की, अपने भविष्य की कोई भी तसवीर उसके मन में नहीं उभरती थी। शायद अभी भी मन की आस्था ने कल्पना को जकड़कर निश्चेष्ट बना रखा था। एक ठण्डी निःश्वास के साथ उसकी आँखें छलछला आईं।

अतुल इस बात को जानेगा तो कितना दुखी होगा, अपने को कितना-कितना कोसेगा और साथ ही एक बड़ी अजीब-सी बात उसके मन में आई —मान लो भावावेश मे आकर वह कह दे, 'मेरे कारण, मेरी ज़रा-सी खुशी के कारण तुमने अपने को बर्बाद कर लिया शीनू, अब—अब मुझे बनाने का अवसर और अनुमति भी दो ''

पास की झाड़ियों के पत्तों को हल्के-से सरसराता, कँपाता शीतल हवा का एक झोंका निकल गया। शिवानी ने सिर ढक लिया, उसे कानों पर बड़ी सरदी लग रही थी।

आँखों की तराइयाँ घनी हो उठीं और पलकों की कगारों के बीच आँसू उमड़-उमड़कर आने लगे···और वे क्षण ··

पानी, चारों ओर पानी। उमड़ता-घुमड़ता, लहराता समुद्र। प्रिटी रेत में खेल रहा था और वह बड़े अनमने भाव से समुद्र के वक्षस्थल पर उठती-गिरती लहरों को देख रही थी। उसका मन बेहद उदास था। शिशिर हमेशा इसी तरह प्रोग्राम बिगाड़ता है। व्यर्थ ही वह अकेली चली आई, उसे शिशिर के साथ ही आना चाहिए था। अब वह यहाँ नहीं ठहरेगी···एक महीने को ही तो प्रिटी घर आया है, और वह महीना सबको साथ ही बिताना चाहिए। दो दिन में ही वह लौट जाएगी। साँझ खूब गहरा आई, तट निर्जन हो गया और समुद्र का पानी अँधेरा घुल जाने से काला हो गया तो, प्रिटी का हाथ पकड़कर वह लौट पड़ी थी।

अचानक अपना नाम सुनकर वह चौंकी और जब मुड़कर देखा तो सामने खड़े व्यक्ति को पहचानने में उसे दो मिनट लग गए थे। पर जब पहचाना तो बेहद आश्चर्य में लिपटा स्वर निकला था, "अरे अतुल ! यहाँ कैसे ?"

"मैं बड़ी देर से तुम्हें बैठा हुआ देख रहा था, पर पता नहीं क्या सोचकर पास नहीं आया। जब तुम जाने लगीं तो लगा कि अभी भी पास नहीं करूँगा तो फिर तुम्हारा पता पाना भी मुश्किल हो जाएगा। ठहरी कहाँ हो ?" अन्धकार में तीनों धीरे-धीरे चलते जा रहे थे।

"पुरी होटल में, तुम कहाँ ठहरे हो ?"

"रामकृष्ण मिशन वालों का एक मठ है, उसी में रहने की व्यवस्था कर ली है। बच्चे को लेकर अकेली आई हो ?"

"हाँ।" और वह सोचने लगी कि क्या प्रिटी की शक्ल उससे इतनी ज्यादा मिलती है कि उसे उसका बच्चा ही माना जाए ?

और होटल आया, उसके पहले ही दोनों को अब बात करने के लिए कुछ रह ही नहीं गया है। शिशिर के न आने से वह यों ही उदास हो रही थी, कुछ भी करने को मन नहीं कर रहा था, फिर ग्यारह साल के अन्तराल में वह सब-कुछ भूल भी तो गई थी। समझ ही नहीं पा रही थी, क्या बात करे। उसके दिमाग़ में कोई भी पुरानी बात तो नहीं उभर रही थी। होटल आ गया तो एक क्षण को ठिठकी, फिर बोली, "चलो कुछ देर बैठकर जाना।"

पर स्वर की उदासी से स्पष्ट ही था कि ये केवल शब्द-भर ही हैं, इनमें ठहरने का कोई आग्रह नहीं। अतुल भी समझ गया।

"नहीं, ठहर तो नहीं सकूँगी।"

"आप अकेले ही हैं न ?" पता नहीं क्या जानने के लिए शिवानी ने पूछा।

"हाँ।"

"तो कल सवेरे चाय पीने इधर ही आइए !" और फिर उसे खुद ही बड़ा विचित्र लगा। अगर वह अकेला नहीं होता तो वह उसे नहीं बुलाती।

"आप जरूर आइए, परसों शायद मैं वापस लौट जाऊँ।"

"अच्छा, आऊँगा।"

दूसरे दिन जब अतुल आया तो पहले दिन की उदासी और औपचारिकता समाप्त हो चुकी थी। सारे दिन दोनों साथ रहे, तीसरे दिन भी शिवानी नहीं गई और अतुल उसके होटल में ही रहा। ग्यारह साल के अनुभवों को दोनों ने एक बार फिर से दोहरा दिया और हँसती हुई शिवानी बोली, "कहते हैं दुनिया बहुत बड़ी है, पर देखती हूँ दुनिया है

बाक़ी छोटी। देखो न, घूम-फिरकर हम लोग आखिर मिल ही गए! हाँ मिल तो गए और…"

अतुल हँसा, पर उसकी हँसी में वहीं दर्द था, मानो वह कह रहा हो, 'जब सब-कुछ समाप्त हो गया हो तब मिलना न मिलना बराबर ही है।'

एक क्षण को शिवानी की आँखें उसके चेहरे पर स्थिर होकर जम गईं—'क्या अतुल के मन में कहीं कुछ दुःख है?'

"सुनो, तुम मेरे साथ कलकत्ता चलो। शिशिर तुमसे मिलकर बहुत प्रसन्न होंगे। नाम से तो वे तुम्हें जानते ही हैं। शादी के बाद ही मैंने उन्हें सभी कुछ बता दिया था। बोलो, चलोगे?"

"नहीं, कलकत्ता जाकर क्या करूँगा? तुम्हारे शिशिर बाबू को खुश करने के लिए वहाँ तक चला चलूँ, इसमें भी कोई तुक हुई भला?"

पिंटी के बाल बनाते-बनाते ही शिवानी ने कहा, "शिशिर के प्रति तुम्हारी इस अरुचि का कारण जान सकती हूँ?"

"जिस व्यक्ति को मैं जानता नहीं, उसमें रुचि-अरुचि का प्रश्न ही नहीं उठता।"

"ईर्ष्या तो नहीं है?" एक हाथ में कंघा और दूसरे में पिंटी की ठोड़ी को पकड़े हुए उसने अतुल के मन में पैठने का प्रयत्न करते हुए पूछा।

"ऐसे घूर-घूरकर क्या देख रही हो? हो भी तो कोई अस्वाभाविक नहीं है।" अतुल की हँसी कितनी बदल गई है! और शिवानी के सामने ग्यारह साल पहले के अतुल के हँसते हुए अनेक चेहरे उभर गए।

"जो व्यक्ति स्वेच्छा से अपनी वस्तु को छोड़कर दो साल तक उसकी कोई खबर भी नहीं ले, उसे ईर्ष्या या शिकायत करने का कोई अधिकार नहीं है।"

"शिकायत तो मैंने नहीं की। अधिकार-अनधिकार की अपनी सीमाएँ भी मैं जानता हूँ शीनू, तुम्हें बतानी न होंगी।"

अतुल कलकत्ता नहीं गया, पर जब शिवानी कलकत्ता के लिए रवाना हुई तो उसने वायदा किया कि जुलाई में जब वह पिंटी को उसके स्कूल

छोड़ने के लिए जाएगी तो एक दिन के लिए अवश्य इलाहाबाद रुकेगी।

ट्रेन चल पड़ी तो शिवानी इस आकस्मिक मुलाकात के संयोग पर ही सोच रही थी। अतुल के एकाकी जीवन के प्रति उसके मन में हल्के-से दर्द का एहसास भी था और सन्तोष का भी···पर वैसा तो कुछ भी नहीं हुआ था इस मुलाक़ात में कि त्रिकोण की कोई समस्या आती। आठ साल का सुखी जीवन बिताकर, दो बच्चों की माँ होकर ऐसी किसी स्थिति की सम्भावना से कितनी दूर जा चुकी है, इसे वह खूब अच्छी तरह समझती थी।

"लो तुम्हारे मित्र साहब का पत्र भी आ गया।" हल्के पीले रंग का लिफ़ाफ़ा पकड़ाते हुए शिशिर ने मज़ाक किया था। शिवानी को लगा, चेहरे पर लिपटी हँसी स्वर के बिखराव को छिपा नहीं सकी है। वह एक क्षण को रुकी, ग़ौर से शिशिर के चेहरे को देखा तो बड़ा नामालूम-सा आघात उसके मन पर लगा। फिर भी उसने बड़े सहज-स्वाभाविक ढंग से पत्र लेकर पढ़ा और वापस लिफ़ाफ़े में डाल दिया। पति के मन में उठी हल्के-से संशय की कोर को मिटाने के लिए उसने एक बार भी यह नहीं कहा कि 'लो पढ़कर देख लो कि क्या लिखा है।'

सन्देह उठे ही क्यों? और यदि अकारण ही सन्देह उठता है तो फिर ऐसे शंकालु व्यक्ति को थोड़ा-सा कष्ट सहना ही चाहिए।

पर उस दिन जो सन्देह का बीज उगा, उसने शिवानी से कहीं कुछ ग़लत करवा ही लिया, इस बात का अनुभव उसे कुल पन्द्रह दिन पहले हुआ। फिर भी, ज़रा-से ठण्डे दिमाग़ से सोचो तो सारी बात कितनी तुच्छ है···और फिर शिशिर के लिए, जिसने नैतिकता, प्रेम, विवाह, सेक्स, सबको नापने के लिए अपने अलग गज़ बना रखे थे। एक ही बार नापने का मौक़ा आया तो गज़ छोटा पड़ गया।

"यहाँ सरदी में क्यों बैठी हो?" शिवानी चौंक उठी। ओस की उजली आभा चारों ओर फैल चुकी थी, उसे पता ही नहीं लगा। उसने शिशिर की ओर देखा।

"भीतर चलो।" बाहर की सरदी से भी ज़्यादा सर्द शिशिर का स्वर था। शिवानी कुछ बोली नहीं, चुपचाप शिशिर के पीछे हो ली।

"बिना नहाए ही नाश्ता करके चले हैं। पहले पहाड़ चढ़ेंगे, फिर उतरकर यहीं गरम पानी के सोतों में नहाकर लौट आएँगे।"

अब तक तो बड़ी गुनगुनी धूप चारों ओर बिखरी पड़ी थी और चारों तरफ़ का सभी-कुछ एक अजीब निखार के साथ चमक रहा था।

"यह विपुलाचल है।" सामने के पहाड़ की ओर संकेत करके शिशिर ने बताया, तो शिवानी ने गर्दन ऊँची करके और पलकों को कपाल पर चढ़ाते हुए उसकी ऊँचाई को नापने का प्रयत्न किया।

"पहले इसी पर चढ़ेंगे। जैनियों का तो यह तीर्थ स्थान है। ऊपर जैन मन्दिर भी है।"

"चलिए।" इस अनिश्चित आदर से अगली बात शिशिर के गले में ही अटक गई।

पहाड़ पर मार्ग के नाम पर एक पतली-सी पगडण्डी बन गई थी, हालाँकि उसका रास्ता भी चारों ओर के झाड़-झंखाड़ से काफ़ी बीहड़-सा ही था, फिर भी जहाँ चढ़ाई एकदम सीधी थी, वहाँ पत्थर डाल-डालकर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ-सी बना रखी थीं। शिशिर ने पगडण्डी पर दो क़दम रखे ही थे कि शिवानी ने कहा, "पगडण्डी से क्या चढ़ना, यहाँ से तो सभी चढ़ते हैं। चढ़ना ही है तो हम जंगली रास्ते से चलें।" और वह जहाँ-की-तहाँ खड़ी रही। कहा भी उसने ऐसे ही था मानो बस कह दिया, कोई सुने-न-सुने।

शिशिर के पैर थम गए···पीछे घूमा और धीरे-से बोला, "पगडण्डी से भी चढ़ाई बहुत ऊबड़-खाबड़ है, बिना पगडण्डी के तो आधा रास्ता भी तय नहीं होगा।"

शिवानी कुछ नहीं बोली, बस चढ़ना शुरू कर दिया। चप्पल उसने हाथ में ले ली थी और हाथ टेकती, झाड़ियों से अपने को बचाती-बचाती वह चढ़ रही थी और उसे कभी मसूरी की याद आ रही थी, जहाँ कैम्टी

फील पर चढ़ते समय दोनों हाथ पकड़कर चढ़ रहे थे तो कभी वह दिन याद आ रहा था, जब चार महीने पहले आया हुआ पत्र लेकर शिशिर ने उससे पूछा था, "जो कुछ इसमें लिखा है वह सच है ?"

शिवानी एक क्षण को विमूढ़-सी उसे देखती रही थी""यह पत्र इसने कहाँ से निकाला ? और फिर बिना तनिक भी सहमे या स्वर को कँपाए सहज भाव से कहा था, "सच न होता तो लिखता ही क्यों ?" और इसके बाद वह तैयार हो गई थी कि शिशिर घर में तूफ़ान मचा देगा, चीज़ें उठा-उठाकर फेंकेगा "अपने और उसके बाल नोचेगा : भिंची हुई मुट्ठियों को हवा में उछाल-उछालकर चीखेगा-चिल्लाएगा""पर वैसा कुछ भी नहीं हुआ था। वह चुपचाप अन्दर चला गया था और दो घण्टे बाद उठकर उसने सूटकेस में अपने कपड़े रखे और बिना एक शब्द भी बोले घर से निकल गया था।

मौन भाव से शिवानी सब-कुछ देखती रही थी। बड़ी ज़ोर से उसका मन हो रहा था कि दोनों बाँहों से पकड़कर उसे बिठा दे और सारी बात समझा दे, पर बात गले में ही अटककर रह गई, जब सीढ़ियाँ उतरा, तब भी रोक नहीं पाई। जाने कैसी विवशता से जकड़ी बैठी रही !

शिशिर का यह सुलगता गुस्सा, यह मौन गृह-त्याग, सब-कुछ उसे बड़े स्वाभाविक लगे थे, पर साथ ही अपने को भी वह एक क्षण तक के लिए अपराधी नहीं मान पाई थी। आखिर मैंने ऐसा कौन-सा बड़ा पाप कर दिया ?

उसके बाद वे उदास, अनमने पन्द्रह दिन भी एक-एक करके उसकी आँखों से गुज़र गए। इन दिनों उसने अतुल को एक भी पत्र नहीं लिखा। कुछ भी करने को तो उसका मन नहीं होता था। कहीं से वह बड़ी निर्जीव और पंगु हो उठी थी।

ऊपर पहुँचे तो रास्ते का झाड़-झंखाड़ समाप्त हो चुका था और चौड़ी समतल भूमि थी, जिसके बीच में मन्दिर बना हुआ था। मन्दिर इस समय बन्द था, पर जालीदार दरवाज़ों में से भगवान् की संगमरमर की मूर्ति

दिखाई दे रही थी और चन्दन, केसर और अगर की मिली-जुली सुरभि हवा के साथ-ही-साथ चारों ओर लहरा रही थी। पता नहीं वहाँ क्या था कि एक बार सब-कुछ भूलकर उसका मन उसमें ही बँधकर रह गया! सारा शहर वहाँ से दिखाई दे रहा था—धूप में चमकता हुआ शहर। यों शहर के नाम पर वहाँ कुछ नहीं है, फिर भी पता नहीं ऐसा क्या था कि मन की सारी उदासी के बावजूद उसे सब-कुछ बड़ा अच्छा लग रहा था! थोड़ी दूर पर ही एक पत्थर की बैंच बनी हुई थी, वह धीरे-धीरे जाकर उसी पर बैठ गई। चढ़ाई के कारण साँस उसकी फूल रही थी और पैरों में दर्द हो रहा था। फिर भी चढ़ते समय मन में एक बोझ का अहसास हो रहा था, वह यहाँ आकर जैसे समाप्त हो गया।

उसने बिना देखे ही जान लिया कि शिशिर भी उसके पास आकर बैठ गया है। धूप में पड़ती उसकी प्रतिच्छाया के समानान्तर ही एक छाया और लेट गई थी। 'शिवानी!' आठ साल बाद उसने पहली बार शिशिर के मुँह से अपना पूरा नाम सुना। उसकी दृष्टि शिशिर के चेहरे पर स्थिर हो गई। बड़े विवश-से भाव से उसने दोनों हाथों को मसलते हुए कहा, "मेरी कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है कि आखिर बात कहाँ से शुरू करूँ। सच ही तो है, जो बात समाप्त ही हो गई हो उसे कोई भला शुरू भी कहाँ से करे?"

शिवानी उसी तरह अपलक नेत्रों से उसकी ओर देखती रही, मानो विश्वास करने का प्रयत्न कर रही हो कि क्या बात सचमुच ही समाप्त हो गई?

"देखो उस दिन आवेश में बिना कुछ कहे मैं चला आया और पिछले पन्द्रह दिन से मैं यहाँ एक तरह से अपने से लड़ ही रहा हूँ। कई तरह से अपने को समझाने का प्रयत्न किया, पर हर बार यही लगा कि बात जैसे बहुत-बहुत आगे पहुँच चुकी है, पीछे लौटने की तो कोई भी राह अब बची नहीं। इसी बात पर आश्चर्य होता है कि अपनी छोटी-से-छोटी बात को भी यों निर्द्वन्द्व भाव से मुझसे कह देने को आतुर तुम, इतनी आगे बढ़ गई और मैं जान भी नहीं पाया!"

एकाएक ही शिशिर का स्वर भीग उठा। "दोहरी चोट तुमने मुझ पर की—एक ओर बेवफ़ाई तो दूसरी ओर धोखा, छल..."

"तुम विश्वास कर सकते हो कि मैं तुम्हारे साथ धोखा कर सकती हूँ, तुम्हें छल सकती हूँ ?' बीच में ही बात काटकर शिवानी ने पूछा। उसकी आँखों की कोर नम हो उठी थी।

"किस आधार पर अविश्वास करूँ, कौनसा कारण है जो विश्वास न करूँ—तुम अपना शरीर तक एक पुरुष को दे आई और कैसे इतनी बड़ी बात को पचाकर बड़े स्वाभाविक ढंग से चल पड़ीं ?" आवेश में शिशिर की मुट्ठियां भिंच गईं, पर स्वर उसका बेहद निर्जीव था...शब्द जैसे उसके गले से निकल नहीं रहे थे।

"शरीर देने के बाद औरत के लिए अस्वाभाविक हो जाना क्या अनिवार्य ही है ? और छिपाने के पीछे भी तुम्हें धोखा देने या छलने का उद्देश्य क़तई नहीं था। सिर्फ़ इसलिए छिपाया था कि तुमसे सहा नहीं जाता, तुम बहुत कष्ट पाते। अतुल के पत्रों से ही तुम कहीं कचोट का अनुभव करते थे।"

"पर मुझे कष्ट हो या जिसे मैं सहन नहीं कर पाऊँ, ऐसा काम ही तुमने क्यों किया ? क्यों किया तुमने ऐसा काम ?"

ऊपर हवा ज़्यादा ठण्डी थी। चढ़ाई के कारण जो पसीना चेहरे पर चमक आया था, वह सूख गया था और शरीर की गर्मी भी हवा की ठण्डक के साथ बह गई थी। शॉल को अपने चारों ओर अच्छी तरह लपेटते हुए शिवानी ने धीरे से कहा, "जैसी स्थिति थी, उसमें लगा कि यदि यह नहीं करूँगी तो मुझे बहुत कष्ट होगा। अपना दायित्व पूरा न कर पाने के कारण शायद मैं अपने को कभी क्षमा नहीं कर पाऊँगी। विश्वास करो शिशिर, जो कुछ भी किया तुम्हें कष्ट देने के लिए नहीं, अपने को कष्ट से बचाने के लिए किया। और तुम्हें कष्ट न हो इसीलिए तुम्हें कुछ बताया नहीं, विश्वासघात की बात तो मेरे मन में भी नहीं थी।..."

"अपनी हर बात को बड़े कौशल से जस्टिफ़ाई करने से ही कोई ग़लत

बात यहीं नहीं हो जाती है शिवानी !" फिर भारी की तरह फँसी हुई दोनों हाथों की उँगलियों को झटके से अलग करके सारी बात को समाप्त करने के अन्दाज़ में उसने कहा, "कष्ट से बचाया, इसके लिए शुक्र गुज़ार हूँ और सोचता हूँ, इस पर अब अधिक बहस न करके तुम्हें भी अधिक कष्ट न दूँ, इसलिए हमेशा के लिए भार से मुक्त ही कर दूँ। यों यह बात मैं तुम्हें लिखकर भी बतला सकता था, पर जाने क्यों लगा कि जिस तरह विवाह के लिए दोनों की उपस्थिति अनिवार्य है, वैसे ही विच्छेद के समय भी दोनों को ही उपस्थित रहना चाहिए।"

आँसुओं को आँखों में ही पीने का भरसक प्रयत्न करते हुए उसने सीधी नज़रों से देखा—शायद वह अपनी बात की प्रतिक्रिया उसके चेहरे पर देखना चाहता था, पर पानी की हल्की-सी परत के पार दीखने शिवानी के नक्श बहुत धुँधले हो उठे थे। शिशिर के कान एक मर्म-विदारक सिसकी को सुनने के लिए और उसकी बाँहें शिवानी की निर्जीव देह को सँभालने के लिए अधीर-सी हो रही थीं। पर वैसा कुछ भी तो नहीं हुआ—न शिवानी रोई, न कटे पेड़ की तरह उसकी बाँहों में ही आ गिरी। उसने बिना पलक उठाए केवल इतना ही कहा, "यदि हमारे सम्बन्धों का आधार इतना छिछला है, इतना कमज़ोर है कि एक हल्के-से झटके को भी सँभाल नहीं सकता, तो सचमुच उसे टूट ही जाना चाहिए।" अपना ऐसा निर्जीव और भाव-विहीन स्वर उसके अपने लिए भी अपरिचित था। उसने आँखें उठाईं, पर शिशिर की ओर नहीं देखा, बस यों ही निरुद्देश्य-सी आसमान की ओर देखने लगी।

आसमान में सफ़ेद पक्षियों का एक झुण्ड बन्दनवार-सा बनाता, धूप में अपने पंखों को झिलमिलाता, उन दोनों के सिर के ऊपर से उड़ गया।

"सम्बन्धों की बात तुम न करो, तुम्हें तो कोई हक़ नहीं है। तुम··· जैसी औरत क्या समझेगी इस सम्बन्ध की पवित्रता को ?"

शिशिर के मन का सारा ज़हर, सारी कटुता उसके स्वर में भी छलकी पड़ रही थी। उसका मन हो रहा था कि दोनों हाथों से दबोचकर शिवानी

को झकझोर डाले···इतना-इतना कि वह चीखकर कह उठे, 'शिशिर मुझसे ग़लती हो गई, मुझे माफ़ कर दो। तुम्हारे बिना मैं नहीं रह सकती ···रह भी नहीं सकूँगी।' और वह अपना सारा आवेश हथेलियों को मसल-मसलकर निकालने लगा।

"शायद तुम ठीक ही कहते हो, क्योंकि अब तो सचमुच ही मुझे इस सम्बन्ध में कोई पवित्रता नज़र नहीं आती। मैं तो सोचती थी, यह संबंध इतना ज़्यादा पवित्र है कि सारे संसार की अपवित्रता भी इसमें आकर पवित्र हो जाती है, पर ज़रा-से स्पर्श से यदि···"

"बकवास बन्द करो," शिशिर एक तरह से चीख-सा पड़ा और फिर दोनों एकाएक ही चुप हो गए। अजीब-सा था वह सन्नाटा भी। पथराई-सी नज़रों से शिवानी ने देखा कि उसकी छाया के पास की छाया हल्के-से काँपी और फिर धीरे-धीरे सरककर दूर होने लगी। वह अपलक नेत्रों से दूर होती उस छायाकृति को ही देखती रही, तभी सूरज आसमान में फैले एक दूधिया रेशमी बादल के टुकड़े की ओट हो गया और वह छाया बेहद धूमिल हो उठी। शिवानी ने उधर से नज़र हटा ली।

धूप के अभाव में हवा और भी ठण्डी लगने लगी। उसने हवा में फर-फराते अपने पल्ले को पकड़कर सिर ढक लिया और फिर अच्छी तरह गर्दन के चारों ओर लपेट लिया, जिससे कानों में सर्दी न लगे। बादलों की परत शायद कुछ घनी हो उठी थी, इसीलिए सामने का सारा दृश्य, दूर-दूर तक फैले मैदान और उनकी सीमा निर्धारित करते पहाड़, सभी बड़े धुँधले हो उठे।

पहली बार शिवानी की आँखों में आँसू भर आए और वे सारी धुँधली अस्पष्ट आकृतियाँ भी मात्र धब्बे-भर रह गईं, जो रह-रहकर काँप जाती थीं। उसने घुटनों में अपना मुँह छिपा लिया। उसे अतुल के साथ बिताए दो दिन याद आए···वे दृश्य, वे बातें, वे स्पर्श···

अपने वायदे के अनुसार प्रिटी को लेकर वह सवेरे इलाहाबाद उतरी थी। अतुल के स्वागत और खातिर से वह कहीं भीतर तक भीग उठी थी।

अतुल दोपहर तक बस केवल प्रिटी के साथ खेलता रहा था···उसके लिए उसने ढेर-से खिलौने लाकर रखे थे और जब खाकर प्रिटी सो गया था, तो पहली बार दोनो मे आमने-सामने बैठकर बातें की थी। शिवानी सवेरे से ही अतुल के सजे-सजाए घर को···बच्चे के प्रति उसके प्यार को देख रही थी और सोच रही थी उस अभाव की बात, जो वह उसके जीवन मे भरकर चली गई है। पर वह तो उसके लिए उत्तरदायी नही। फिर भी जाने क्यो लग रहा था कि इस सबके बीच कही वह है।

"शायद इस तरह का प्रश्न पूछने का अधिकार तो मैं खो चुकी हूँ, फिर भी पूछ रही हूँ अतुल कि तुमने शादी क्यो नही की?"

अतुल मुस्कराया था। जाने कैसा दर्द-भरा व्यंग लिपटा था उस मुस्कराहट मे कि शिवानी बस देखती ही रह गई।

"पता नहीं क्यो, शादी की कोई इच्छा ही मन मे नही जागती। लगता है जीवन का यही पैटर्न बन गया है।" बड़े हताश-से स्वर मे अतुल ने कहा था और शिवानी कुछ देर तक समझ नही पाई थी अब क्या कहे? फिर बोली, "जो पैटर्न है, उसमे तो देखती हूँ विवाह की बहुत ज्यादा गुंजाइश है। कॉलिज का अच्छा जॉब है, सजा-सजाया घर है, निश्चित जीवन है, अब कौन-सी बाधा है? ग्यारह साल पहले का वह अनिश्चित राजनीति जीवन भी अब तो पूरी तरह छूट गया है, फिर?"

अतुल ने कुर्सी की पीठ पर सिर को भुला दिया और आँखें भींच लीं। दो क्षण चुप रहने के बाद वह बोला, "मैं खुद नही जानता क्या बात है, पर शादी के लिए मन मे कोई उत्साह नही पाता। ऐसा नही कि तुम्हारे बाद मेरे जीवन मे कोई आया नहीं···दो लडकियाँ आईं और बहुत निकट आईं, पर तुमसे कटकर मैं शायद कहीं से इतना ज्यादा टूट चुका हूँ कि मन मे किसी बात के लिए कोई उत्साह नहीं पाता। कही से मैं बेहद जड हो गया हूँ—आई एम कम्प्लीटली डैड वीनू कम्प्लीटली डैड। किसी लडकी को देने के लिए मेरे पास कुछ भी तो नहीं है। मरे हुए प्यार की लाश को मैं ढो रहा हूँ और उसे ढोते-ढोते मैं खुद लाश हो गया हूँ।" स्वर भीगा···

कांपा और फिर बिखर गया।

शिवानी की आंखों से दो बूंद आंसू चू पड़े थे।

उसके बाद रात को गाड़ी में बैठने तक दोनों में कोई बात नहीं हुई थी। और जब गाड़ी चल पड़ी, अतुल पीछे छूट गया तो वह तकिये में मुंह छिपाकर देर तक आंसू बहाती रही। किस बात पर उसे रोना आ रहा था, वह खुद नहीं समझ पा रही थी।

तीसरे दिन रात को बिना किसी प्रकार की सूचना दिये वह अपनी अटैची हाथ में लिये अतुल के क्वार्टर पर जा पहुँची थी। विस्मित पुलकित-सा अतुल उसे देखता ही रह गया था···"तुम, तुम कैसे ? तुम तो तीन-चार दिन प्रिटी के साथ रहनेवाली थीं न ?"

"नहीं रुकी।" अटैची को एक ओर रखकर कुर्सी पर बैठते हुए उसने जवाब दिया था।

"पर तुम···" खुली हुई किताब को उल्टी रखकर कुर्सी को शिवानी की ओर घुमाते हुए अतुल बोला।—"बिना सूचना दिये कैसे आ गई, क्यों आ गई, यही न ?"

अतुल की कुछ भी समझ में नहीं आया कि वह क्या कहे।

"नहा लूं, तब बात करूंगी।" और वह उठ पड़ी। ऐसे मशीनी ढंग की दृढ़ता से वह बातें कर रही थी कि उसे ही स्वयं अपना व्यवहार बड़ा अपरिचित और पराया लग रहा था।

वह नहाने गई तो उसने नल को पूरा खोल दिया···उसे लग रहा था जैसे पानी के साथ उसके शरीर से केवल सफ़र की धूल ही नहीं झड़ रही है, और भी बहुत-कुछ पूंछता-बहता चला जा रहा है। बड़ी देर तक वह पानी के नीचे खड़ी रही···मानो कुछ था जिसे वह पूरी तरह धोकर बहा देना चाहती थी।

नहाकर पीठ पर गीले बाल फैलाकर आई तो देखा अतुल ज्यों-का-त्यों बैठा है। सिगरेट के धुंए की हल्की-सी परत से उसका चेहरा कुछ अस्पष्ट-सा दिखाई दे रहा था। शिवानी ने ट्यूब लाइट का स्विच बन्द कर दिया

तो कमरे का दूधिया प्रकाश अँधेरे में डूब गया···केवल टेबल-लैम्प के बिख-
रते प्रकाश में सिमटी चीजें ही चमकती रह गईं।

"मुझे यह रोशनी ज़रा भी अच्छी नहीं लगती।" और शिवानी अतुल की कुर्सी के पास आकर खड़ी हो गई।

"खाना?"

"ट्रेन में खा लिया।" और वह कुर्सी के ही हत्थे पर बैठ गई।

"अतुल!"

अतुल चुप। सद्य:स्नाता शिवानी के शरीर की ताज़गी, भरते बालों का गीलापन और विनाका पाउडर की गन्ध··· फिर भी अतुल चुप ही रहा। शिवानी धीरे-धीरे उसके बालों में अपनी उँगलियाँ फेरने लगी।

"तुम जानती हो शीनू, तुम क्या कर रही हो? यह सब मैं तुम्हें कभी नहीं करने दूँगा·· कभी नहीं। मेरे लिए तुम अपना सारा संसार मिटाकर रख दो, तुम्हारी इतनी अनुकम्पा मुझसे सही नहीं जाएगी।···"

स्वर कहीं दूर घाटियों की गूँज की तरह आ रहा था। शिवानी अतुल के चेहरे को देख रही थी, पर अतुल ने अपनी आँखें बन्द कर ली थीं, और बाकी चेहरा उसका इतना जड़, इतना निर्विकार था कि शिवानी काँप गई। सिगरेट के धुएँ की एक पतली-सी लकीर दोनों के बीच में खिंची हुई थी···बस।

"अनुकम्पा की बात न कहो अतुल···इसे और चाहे जो नाम दे लो। तुम ऐसे अकिंचन नहीं कि तुम पर अनुकम्पा करूँ; और अपना सब-कुछ मिटाकर देने की उदारता भी मुझमें नहीं है। मेरा कुछ भी मिटनेवाला नहीं है, इसीलिए दे रही हूँ।" कहने के साथ ही उसे शिशिर का ख़याल आया, पर उसे जबरन एक ओर ठेलकर उसने अतुल के होंठों पर अपने काँपते होंठ रख दिए।

उँगलियों में दबी हुई सिगरेट की पकड़ इतनी कस गई कि वह कस-मसाकर टूट गई।

"मैं जानता हूँ तुम्हारे पति बहुत उदार हैं, महान् हैं···बड़े अन-

कन्वेंशनल भी हैं, पर बार-बार उनकी उदारता की बात कहकर क्यों नाहक ही मुझे छोटेपन का एहसास करा रही हो ?"

"पागल !" हल्के-से शिवानी हँसी थी। "आदमी छोटा अपने मन के छोटेपन से होता है, दूसरे का बड़प्पन किसी को छोटा नहीं बनाता, बना भी नहीं सकता। मेरे लिए जैसे शिशिर, वैसे ही तुम हो।" और उसने फिर हल्के से अतुल के होंठों को छू दिया।

इस बार सिगरेट का टुकड़ा जमीन पर पड़ा था और शिवानी की बाँहें, उसकी सारी देह कसमसा रही थी।...और फिर एकाएक झटके से शिवानी को अपने से अलग करके अतुल ने पूछा, "शीनू, तुम यहाँ क्यों आईं ? क्यों आईं तुम यहाँ ? मैंने तो तुम्हें सिर्फ़ यह लिखा था कि प्रिटी को लेकर एक दिन के लिए आना...मैं तो सिर्फ प्रिटी से खेलना चाहता था। बहुत प्यारा बच्चा है। तुम यों अकेली चली आओगी, इसकी तो कल्पना भी नहीं की थी...इस सबके लिए मैं तैयार भी नहीं था...यह सब मैं चाहता भी नहीं था।"

"हम जो चाहते हैं या जिसके लिए तैयार रहते हैं, जीवन में केवल वही होना चाहिए ऐसा तो कोई नियम नहीं है। और तुम्हारे निमन्त्रण पर ही तुम्हारे घर आना चाहिए, यह बात कभी मन में आई नहीं, इसीलिए चली आई। मेरा आना इतना बुरा लग रहा है तो मैं कल ही चली जाऊँगी।" बड़े सधे हुए स्वर में शिवानी बोली।

"बुरा...शीनू, कभी-कभी अपने बारे में बड़ी ऊँची और मीठी बातें सुनने के लिए हम ऐसी बातें करते हैं। तुम शायद सोच रही हो कि मैं विभोर होकर कहूँगा कि शीनू तुम क्या आ गईं, मेरे जीवन में बहार आ गई...मैं तो चाहता हूँ कि तुम हमेशा-हमेशा मेरे पास रहो...पर ऐसा मैं कुछ भी कहने नहीं जा रहा हूँ। संयम की वजह से नहीं, वरन इसलिए कि मैं ऐसा महसूस नहीं कर रहा, पर इतना ज़रूर कहूँगा कि आकर तुमने उचित नहीं किया।"

कहीं हल्के-से आहत होकर भी शीनू हँसी, "उचित-अनुचित का मेरा

अपना भी विवेक है और मुझे उसके अनुसार ही चलने दो। अपना विवेक तुम अपने छात्रों को ही बाँटने तक सीमित रखोगे तो ज्यादा प्रसिद्धि मिलेगी।"

"अपने दिल पर हाथ रखकर पूछो—तुमने शिशिर के साथ अन्याय नहीं किया, यह उसके प्रति छल नहीं है? आते समय जिस सहजता से तुम अपने ठहरने की बात बनाकर आई थी, लौटकर भी उसी तरह बना सकोगी···यहाँ जो कुछ किया, कह सकोगी उसे?"

अतुल की इस जड़ता और क्रूरता से शिवानी एक तरह से तिलमिला गई। उसे शिशिर का खयाल आया। उसके हल्के-से स्पर्श तक से वह कैसा उन्मादी हो जाता है और यह···

अतुल ने दूसरी सिगरेट निकाली। माचिस की जलती सींक ने एक क्षण के लिए प्रकाश के बड़े वृत्त के बीच एक छोटा-सा वृत्त और बना दिया। और फिर दोनों के बीच में धुएँ की हल्की-सी परत छा गई··· लहरदार धुएँ की।

"हर बात को बुद्धि के गज से नापने का मेरा स्वभाव नहीं है। मैं वही करती हूँ जो मेरा मन ठीक समझता है। बस, इतना जान लो कि यहाँ आकर मैंने शिशिर के साथ धोखा नहीं किया···उनको छलने का साहस इस जन्म में तो मैं शायद ही कभी जुटा पाऊँ।"

अतुल केवल सिगरेट के लम्बे-लम्बे कश खींचता रहा। जब वह कश खींचता तो सिगरेट का सिरा सुर्ख अंगार की तरह चमक उठता···उसके बाद धुएँ के हल्के-फुल्के बादल दोनों के बीच तैरने लगते।

"मेरी बात की कोई संगति तुम्हें नजर नहीं आ रही है न! लगता है शायद मेरे मन की बात कोई समझ भी नहीं पाएगा—तुम भी नहीं, शायद शिशिर भी नहीं। जानती हूँ, अपनी इस बात को प्रमाणित करने के लिए एक तर्क भी मैं नहीं जुटा सकती हूँ···वैसा कोई प्रयास भी नहीं करूँगी···फिर भी इतना जान लेना अतुल, जो कह रही हूँ वह झूठ नहीं है।" और उसका कण्ठ रुँध गया।

बात से नहीं पर शायद स्वर की आर्द्रता से अतुल बेहद कातर हो आया। शिवानी का हाथ अपने हाथ में लेकर सामने की दीवार पर बड़ी खोई सूनी-सी नज़रों से देखता हुआ वह बोला, 'शीनू, कभी सोचा भी नहीं था कि यों ग्यारह साल बाद तुमसे मुलाक़ात होगी। लोग कहते हैं, दुनिया बहुत बड़ी है···पर देखता हूँ, यह तो बहुत-बहुत छोटी है। दो प्राणी भी बिना मिले जीवन नहीं बिता सके !" और वह चुप हो गया। थोड़ी देर बाद फिर वैसे ही खोए-खोए स्वर में बोला, "और पुरी में मिला था, तब क्या यह सोचा था कि इस मुलाक़ात का यह परिणाम होगा ! अपने जीवन के अभाव और दुख ने उस दिन मन को कहीं बहुत बाधा था, पर तुम्हें सुखी, प्रसन्न देखकर मैं अपने दुख को भूलने की कोशिश कर रहा था··· तुम्हारे सुख से सुखी होने का प्रयत्न कर रहा था।"

"तुम मेरे सुख से सुखी होओ, यह ठीक है···यह जीवन के लिए आदर्श हो सकता है, पर मैं यदि तुम्हारे दुख से दुखी होऊँ, तो यह ग़लत है··· अनुचित है, क्यों ? तुम्हें जीवन में अकेलापन नहीं लगता, तनहाई की घड़ियाँ ज़िन्दगी को बोझिल नहीं बना देतीं ··यह सूना-सा घर और उससे भी अधिक सूना मन तुम्हें कहीं से टीसता नहीं ?"

"सब-कुछ होता है शीनू···सब-कुछ होता है···पर उससे क्या··· उससे···"

"मेरे प्यार की लाश ने तुम्हें जीती-जागती लाश बना दिया है, मेरा प्यार ही तुम्हें नया जीवन भी देगा। मेरे इस अधिकार को मुझसे कोई नहीं छीन सकता है।"

"शीनू !" और उसने शिवानी का हाथ कसकर पकड़ लिया। देर तक शिवानी का हाथ उसके हाथ में काँपता-पसीजता रहा था···उसके आँसू शिवानी के गालों और अधरों को भिगोते रहे थे ··शीनू···शीनू···का स्वर मौन कमरे की दीवारों के बीच में काँप-काँपकर गूँजता रहा था।

"शीनू," शिवानी चौंक पड़ी। उसने घुटनों में से सिर उठाया। पता नहीं कब से शिशिर उसके पास आकर खड़ा हो गया था। उसने अपनी गीली पलकें उठाकर शिशिर की ओर देखा—रूखे उड़ते केश, फीका मुरझाया चेहरा। धीरे से वह उसके पास आकर बैठ गया!

धूप फिर निकल आई थी···चारों तरफ की चीजें फिर चमकने लगी थीं। इस बार शिशिर जब बोला तो उसका स्वर बहुत सधा हुआ था··· उसमें न कहीं आक्रोश था, न आवेश!

"एक बात पूछूँ शीनू, अगर मैं किसी दूसरी स्त्री से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करूँ तो तुम बरदाश्त कर लोगी?"

शिवानी ने अपनी बड़ी-बड़ी पलकें शिशिर के मुख पर टिका दीं। रात से लेकर अब तक कई बार रोने के कारण काजल की कोर धुल चुकी थी और उसकी आँखें बिना किनारे की साड़ी की भाँति बड़ी फीकी और निस्तेज लग रही थीं। "इसका उत्तर बहुत-कुछ उस परिस्थिति पर निर्भर करता है, जिसमें तुम उससे सम्बन्ध स्थापित करोगे। हाँ, फिर भी इतना कह सकती हूँ कि इस मामले में मैं बहुत संकीर्ण नहीं हूँ, और फिर तुम्हारे प्रति, अपने आपसी सम्बन्धों के प्रति आस्था भी इतनी कच्ची नहीं।"

"जान सकता हूँ, तुम्हारी ऐसी कौन-सी परिस्थिति थी, जिसने तुम्हें यों मजबूर कर दिया? उसने तुम्हें बेहोश कर दिया था, कुछ पिला दिया था, जबरदस्ती की थी···"

"उस पर व्यर्थ लांछन लगाने की आवश्यकता नहीं। जो कुछ कहना है मुझे कहो। मैं तुम्हारी घृणा, तुम्हारा आक्रोश—सभी-कुछ सहने को तैयार हूँ।"

"बहुत दर्द है उसके लिए मन में?" व्यंग बहुत पैना था, फिर भी शिवानी को कहीं से बींध नहीं पाया। बिना तनिक भी विचलित हुए उसने कहा, "दर्द था तभी तो वह सब कर पाई जो एक नारी के लिए शायद असम्भव ही होता है। यदि मैं ज़रा-सा देकर किसी के जीवन में पूर्णता ला सकती हूँ, उसके अभावों को भर सकती हूँ, उसके सारे जीवन का रवैया

बदल सकती हूँ, तो उसे देने में क्या हर्ज है ?"

"उसके प्रति दायित्व निभाने में तुम किसी और के प्रति अपने दायित्व को भुला रही हो, जो दे रही हो वह किसी और का है, यह बात क्या..."

"यह मैं नहीं मानती।" बड़ी दृढ़ता के साथ शिवानी ने बीच में ही बात काट दी—"तुम्हीं बताओ, उस बात को आज शायद चार महीने हो गए, यदि पत्र से तुमने न जाना होता तो क्या मेरे व्यवहार से तुम जान पाते ? जो तुम्हारे लिए है उसका भागी न कोई हुआ है, न भविष्य में ही कोई हो सकेगा, यह बात भी क्या मुझे कहकर ही जतलानी होगी।" और इस बार शिवानी की आँखों से टप्-टप् आँसू टपक पड़े। उसने उन्हें पोंछने का कोई प्रयत्न नहीं किया...दोनों गालों पर आँसू की लकीरें बन गईं।

"सच-सच बताना, तो तुम क्या यह कहना चाहती हो कि सिर्फ़ देने की भावना से ही तुमने यह सब किया...शायद दया के वशीभूत होकर... भोगने या पाने की भावना उसमें कहीं नहीं थी ?" और शिशिर उसे ऐसी तीखी नज़रों से देखने लगा मानो वह उसके शरीर को भेदकर मन में छिपे रहस्य को जान लेगा। शायद जो कुछ हुआ, उसका शिशिर को दुख नहीं था...पर-पुरुष के स्पर्श-मात्र से ही नारी अपवित्र हो जाती है, ऐसी बात को प्रश्रय देने वाली संकीर्णता भी उसमें नहीं थी...वह तो सिर्फ़ यह चाहता था कि जो कुछ हुआ, शिवानी उसके लिए दुख करे, अपराध-भावना और आत्म-ग्लानि में डूबकर प्रायश्चित्त कर ले।

"सच जानने का तुम्हारा इतना आग्रह है तो सच ही बताऊँगी, यों भी झूठ मैं तुमसे आज तक नहीं बोली हूँ, शायद बोल भी नहीं सकती हूँ, पर सहारना तुम्हें होगा।" और शिवानी एक क्षण को रुकी, मानो सामने बैठे शिशिर की सामर्थ्य को तौल रही हो। फिर धीरे से बोली, "जानते हो देने-पावने का हिसाब रखने की मेरी वृत्ति नहीं। कितना दिया और कितना पाया, यह मैं स्वयं नहीं जानती तो तुम्हें क्या बताऊँ ? और दया की बात भी ग़लत है। जो अकिंचन हो, दयनीय हो, दया उसके प्रति की जा सकती है—पर अतुल में तो ऐसा कुछ नहीं।"

धैर्य और सहन-शक्ति के सारे बाँध टूट गए हों, इस प्रकार हाथों को झटके से झटककर शिशिर ने कहा, "जब सारी बात ही इतनी साफ़ और स्पष्ट है तो व्यर्थ की बहस करने से लाभ ?" फिर एकाएक ही स्वर को अत्यन्त मद्धिम बनाकर बोला, "मैं अभी तक समझे था, तुम मेरी हो, केवल मेरी और मेरे सिवाय किसी की हो नहीं सकती हो...लेकिन अब लगता है कि एक बड़ा खूबसूरत-सा भ्रम ही तो मैंने पाल रखा था।" उसका गला भर्रा गया, अन्तिम शब्द तो जैसे आँसुओं में भीगकर काँप गए थे।

"भ्रम क्यों, ठीक ही तो समझा था। साथ रहें या न रहें, यह विश्वास तो मैं आज भी दिला सकती हूँ कि शीनू तुम्हारी है और केवल तुम्हारी ही। पति के रूप में तो मैं किसी की कल्पना भी नहीं कर सकती हूँ, अतुल की भी नहीं। तुम्हें लेकर मन का कोना-कोना कुछ इस तरह भरा हुआ है कि उसमें और कोई कहाँ से आएगा भला ? सच बोलने का मेरा काम था, मैंने बोल दिया...सहारना तो तुम्हें ही होगा।"

"अच्छा शीनू," और एकाएक ही उसने शिवानी का हाथ पकड़ लिया—"उस समय क्या तुम्हें एक बार भी मेरा ख़याल नहीं आया ?"

"ख़याल !" और इतनी देर बाद पहली बार मुस्कान की एक बहुत ही क्षीण-सी आभा उसके फीके अधरों पर फैल गई..."तुम्हारे सिवाय और कोई बात ही मन में नहीं थी। शरीर पर चाहे वह छाया हुआ हो, पर मन पर तुम...केवल तुम छाए हुए थे।" शिवानी ने धीरे से अपना हाथ शिशिर के हाथ से छुड़ाया और शॉल को उतारकर एक ओर रख दिया।

धूप में कुछ तेज़ी आ गई थी और हवा में हल्की-सी ऊष्मा।

"तुम सच कह रही हो शीनू, बिलकुल सच।" और शिशिर का मन हो रहा था कि शिवानी बार-बार इसी बात को दोहराती जाए।

"जानते तो हो, मैं तुमसे झूठ नहीं बोल पाऊँगी...कोई बात छिपा भले ही जाऊँ, पर झूठ बोलना मेरे लिए सम्भव नहीं। नहीं तो क्या मैं जानती नहीं कि यदि एक बार भी मैं पश्चात्ताप के दो शब्द कह दूँ, तो तुम्हारे मन का सारा मलाल दूर हो जाए, सारा क्रोध बह जाए। पर जो

चीज़ में महसूस नहीं करती, उसे झूठ बोलकर तुम्हारे सामने स्वीकारा नहीं जाता। एक ज़रा-से झूठ से मेरा सारा भविष्य ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रह सकता है, पर वह भी तो नहीं बोला जाता।"

इस बार शिवानी ने शिशिर का हाथ अपनी दोनों हथेलियों में ले लिया और धीरे-धीरे उसे सहलाने लगी।

"मान लो शीनू, वह आज आकर तुम्हें ही माँगने लगे, तो तुम्हारा दायित्व तुम्हें किस ओर ले जाएगा?"

'ऐसी बात भी तुम्हारे मन में क्यों आती है? अतुल अपनी सीमा जानता है। जो उसका नहीं, उसे पाने की लालसा भी कभी नहीं करता। अपने को कष्ट देना वह जानता है, दूसरे के लिए कष्ट का कारण बनना उसका स्वभाव नहीं। और मेरे दायित्व की बात उठाकर व्यर्थ ही क्यों अपने को नीचे गिरा रहे हो? मेरे जीवन में तुम्हारा जो स्थान है, उसे कोई नहीं ले सकता, लेना तो दूर, उस तक कोई पहुँच भी नहीं सकता। किसी के कितनी ही निकट चली जाऊँ, चाहे शारीरिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लूँ पर मन की जिस ऊँचाई पर तुम्हें बिठा रखा है, वहाँ कोई नहीं आ सकता; किसी से उसकी तुलना करने में भी तुम्हारा अपमान होता है।" वह एक क्षण को रुकी, 'पर कभी नहीं सोचा था शिशर कि यह सब मुझे कहकर तुम्हें बतलाना पड़ेगा···" और बात समाप्त करते-करते वह जैसे फूट पड़ी। तभी दो सबल बाँहों के कसाव में उसकी सारी जड़ता, सारी तटस्थता एक साथ ही पिघल पड़ी। केवल आँसू···हिचकियाँ··· आँसू···

उतने ही भर्राये हुए स्वर में शिशिर ने भी कहा, "शीनू तुम मेरे जीवन की इतनी बड़ी आवश्यकता और इतनी बड़ी कमज़ोरी हो कि मैं तुम्हारे बिना रह भी नहीं सकता और किसी भी रूप में तुम्हें ज़रा-सा शेअर भी नहीं कर सकता हूँ।" और उसके आँसू शिवानी की साड़ी से छनकर उसके रूखे-बिखरे बालों को भिगोने लगे।

सुनहरी धूप में फैली दो गुँथी हुई छाया कृतियाँ देर तक कसमसाकर

सिहरती-काँपती रही।

मन्त्रोच्चारण की ध्वनि ने शिशिर का ध्यान आकर्षित किया। घुटने तक धोती और ललाट पर चन्दन पोते हुए दो व्यक्ति हाँफ-हाँफकर, मन्त्र बोलते हुए चढ़े आ रहे थे। उसने शिवानी को धीरे से अपने से अलग कर दिया। वे दोनों शायद मन्दिर के पुजारी थे। उन्होंने एक बार उन दोनों की ओर देखा और फिर मन्दिर का घण्टा बजाकर द्वार खोल दिया।

"आओ शीनू, अब लौट चलें।" धूप की तेज़ी और गर्मी काफ़ी बढ़ चली थी।

अनमने भाव से शिवानी उठी। दोनों एक क्षण के लिए मन्दिर के सामने रुके, फिर मन्दिर के पीछे की ओर वहाँ जाकर खड़े हो गए, जहाँ से ढलान शुरू होती थी। दूर-दूर तक फैले मैदान, आपस में उलझी-गुँथी हुई पगडण्डियाँ···त्रिकोण, चौकोर आकार के कटे खेत···शहर को चारों ओर से घेरती पहाड़ियाँ···नीचे रेंगते हुए छोटे-छोटे मनुष्य, छोटे-छोटे घर···सभी कुछ बड़ा छोटा-छोटा नज़र आ रहा था।

"हम लोग शायद काफ़ी ऊँचाई पर हैं। कितनी ऊँचाई होगी इस पहाड़ की?"

"ठीक ऊँचाई तो नहीं मालूम, फिर भी ऊँचा तो है ही···नाम ही है, विपुलाचल।"

"पहाड़ पर खड़े हो जाओ तो सभी-कुछ कितना छोटा-छोटा लगने लगता है न?" शिवानी के आँसुओं से धुले मुख पर फैली हल्की-सी मुस्कान शिशिर को बड़ी प्यारी लगी। उसके कन्धे पर बड़े प्यार से हाथ रखकर उसने कहा, "चलो शीनू, अब गरमी बढ़ चली है···फिर अभी कुण्ड पर भी तो चलना है।" पर शिवानी वहीं खड़ी रही।

मन्दिर का घण्टा रह-रहकर बज उठता था, जिसकी गूँज उस सन्नाटे में देर तक गूँजती रहती थी। तुरन्त की जलाई हुई अगरबत्तियाँ और लोबान की सुगन्ध चारों ओर फैलती जा रही थी।

धीरे-धीरे दोनों लौट आए। शिवानी एक बार फिर मन्दिर के सामने

ठिठकी, फिर आगे बढ़ती शिशिर के पीछे चली गई। उतरने के लिए शिशिर ने फिर पगडण्डी पकड़ी तो शिवानी बच्चों की तरह मचल उठी…"नहीं, नहीं, अब हम पगडण्डी से नहीं उतरेंगे।"

"मानो शीनू, बड़ा सीधा-सा पहाड़ है। एकदम ढलान पर उतरा नहीं जाएगा, फिसल पड़ी तो हड्डी-पसली एक हो जाएगी।"

"नहीं फिसलूंगी…फिर तुम तो हो साथ, पकड़ लेना।" और वह झाड़ियों को हाथ से चीरती हुई मार्ग बनाकर आगे बढ़ी। मजबूरन शिशिर को उसके साथ होना पड़ा। दोनों एक-दूसरे का हाथ थामे, एक-दूसरे को सहारा देते, सँभल-सँभलकर पैर बढ़ाने लगे। बीच-बीच में कँटीली झाड़ियों में शिवानी का आँचल उलझ जाता तो शिशिर बड़ी सावधानी से निकालते हुए कहता, "तुम्हारी ज़िद की भी हद है…सारी साड़ी फाड़ ली न!" जवाब में शिवानी केवल हँस देती।

नीचे उतरते-उतरते शिवानी सचमुच थक गई। थकान शायद चढ़ने की थी, पर उस समय उसका एहसास नहीं हुआ था; अब एकाएक ही लगने लगा कि पैर जैसे झपकने लगे हैं।

"मैं तो थक गई रे," और वह वहीं धम्म से बैठ गई!

"यहाँ नहीं…यहाँ नहीं…अभी गरम पानी के कुण्ड में पैर डालकर बैठ जाना, सारी थकान मिट जाएगी।" और हाथ पकड़कर एक झटके में उसने उसे खड़ा कर दिया।

कुण्ड पर यों तो हमेशा ही भीड़ बनी रहती है पर गन्धक के उन गरम सोतों की तासीर कुछ ऐसी ही है कि अनेक रोगी उसमें स्नान करने आते हैं, पर इस समय वहाँ अपेक्षाकृत भीड़ कम ही थी। सवेरे दस बजे तक तो जैसे वहाँ मेला लगा रहता है।

अपने शरीर को खींच-खींचकर शिवानी ने जैसे-तैसे सीढ़ियाँ चढ़ीं और वह जब कुण्ड के किनारे गई, तब तक तो उसमें खड़े रहने की ताक़त भी नहीं रह गई थी। लम्बी, बोझिल यात्रा करने के बाद देह जैसे एकदम ही निर्जीव हो जाती है, वैसी ही हालत शिवानी की भी हो रही थी।

साड़ी को ज़रा-सा ऊपर चढ़ाकर शिवानी ने जैसे ही पानी में पैर डाला···'हाय' के साथ वापस निकाल लिया···

"इतना गरम पानी !"

"शुरू में लगेगा, फिर देखना कितना आराम मिलता है ! एक-दो बार पैर डाल-डालकर वापस निकाल लो, तो पैर इस गरमी के अभ्यस्त हो जाएँगे।"

शिवानी पैर हिला-हिलाकर पानी में लहरें उठा रही थी और लहरों के साथ ही जल में पड़ते उनके प्रतिबिम्ब थिरक रहे थे।

धीरे-धीरे सारी थकान मिटने लगी और दोनों की रग-रग में ऊष्मा की लहरें दौड़ने लगीं।

मन्नू भण्डारी

जन्म : ३ अप्रैल, १९३१

जन्म-स्थान : भानपुरा (राजस्थान)

शैशव और शिक्षा . अजमेर ।

हिन्दी-पारिभाषिक-कोश के आदि-निर्माता श्री सुखसम्पतराय भण्डारी की सबसे छोटी पुत्री मन्नू भण्डारी को लेखन-संस्कार पैतृक-दाय के रूप में प्राप्त ।

रचनाएँ

कहानी-संग्रह

१. एक प्लेट सैलाब

२ मैं हार गई

३ तीन निगाहों की एक तस्वीर

४ यही सच है

५ अकेली (राजेन्द्र यादव के साथ)

६ एक पुरुष : एक नारी („)

उपन्यास

७. एक इंच मुस्कान (राजेन्द्र यादव के साथ)

नाटक

८ बिना दीवारों के घर